श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(चतुर्थ खण्ड)

कृष्ण कृष्णेति भाषन्तं सुस्वरं सुमनोहरम् ।
यतिवेषधरं सौम्यं श्रीचैतन्यं नमाम्यहम् ॥

लेखक—

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

विषय-सूची

श्रीहरिः

चित्र-सूची

श्रीहरिः

समर्पण

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय॥

क्या करना चाहते हो तुम, प्यारे! तुम्हारी माया तुम्हीं जानो। जहाँ मैं समाप्ति करना चाहता हूँ, वहाँ तुम असमाप्ति कर देते हो और जहाँ असमाप्ति चाहता हूँ वहाँ तुम्हारे कार्यकी समाप्ति हो जाती है। फिर मुझ मूढ़मतिका चाहना ही व्यर्थ है। प्यारे! मेरे इस चञ्चल मनको ऐसा बना दो कि मैं कुछ चाहूँ ही नहीं। तुम्हारी चाहमें ही मस्त रहूँ। तुम्हारी इच्छापर ही अवलम्बित रहूँ। क्यों ठीक है न नाथ! क्या बना दोगे मेरे मनको ऐसा? क्या मेरी 'अपनी चाह' को मिटा दोगे? तुम्हारी चाह अमोघ है, उसमें न राईभर घट सकता है और न तिलभर बढ़ सकता है। लो, यह तुम्हारी चाह पूरी हुई। अपनी वस्तुको सम्हालो।

वैशाखी पूर्णिमाकी सन्ध्या
संवत् १९८९

तुम्हारा ही
"प्रभु"

प्राक्कथन

नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः॥*
(श्रीमद्भा० १०। ६१। २९)

उस काले कृष्णकी लीलाको कौन जान सकता है? जिस मनुष्यमें जितना ही अधिक अज्ञान होगा, वह उतना ही अधिक आगेका कार्यक्रम बनावेगा। न जाने मनुष्य निरन्तर कितनी-कितनी बातें सोचता रहता है। किन्तु 'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा' रामके रचेमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। क्योंकि सत्यसंकल्प तो राम ही हैं, अल्पज्ञ प्राणीके संकल्प तो क्षणिक और अस्थायी होते हैं।

पहले दो भागोंमें इस चरित्रको समाप्त करनेका विचार था, फिर सोचा, चार भागोंमें ठीक रहेगा। पहलेमें जन्मसे लेकर संकीर्तनके आरम्भतक, दूसरेमें संन्यासके लिये गृहत्यागतक, तीसरेमें वृन्दावनके गमनतक और चौथे भागमें पुरीकी स्फुट घटनाएँ और गम्भीरा-लीला लिखकर इसे

---

* सर्वभाव भगवान्‌के लिये नमस्कार है, ब्रह्मके लिये नमस्कार है, अनन्तशक्तिके लिये नमस्कार है, श्रीकृष्णके लिये नमस्कार है, वासुदेवके लिये नमस्कार है, योगियोंके सर्वाधिपके लिये नमस्कार है।

समाप्त करेंगे, किन्तु 'मेरे मन कुछ और थी, विधिनाके कुछ और' तीन खण्ड लिख जानेपर चौथा खण्ड कुछ बड़ा हो गया, फिर भी महाप्रभुकी गम्भीरा-लीला, छः गोस्वामियोंका वृत्तान्त आदि अत्यन्त आवश्यक प्रसंग रह ही गये। इसलिये चार खण्डोंमें समाप्त न होकर यह ग्रन्थ पाँच भागोंमें समाप्त हुआ और आज चौथे-पाँचवें दोनों ही खण्ड समाप्त हो गये। अब भविष्यमें क्या करायेंगे, कुछ पता नहीं। अस्तु, पाठकोंको इससे क्या, वे इस शरीरसे जो कुछ कराना चाहें करावें, किन्तु पाठक तो प्रेमसे श्रीचैतन्य-चरित्रका ही अध्ययन करें। इसलिये अब आगे अधिक बात न बढ़ाकर पाठकोंसे सविनय प्रार्थना है कि, वे खूब मनोयोगके शान्त, एकान्त हृदयसे दत्तचित्त होकर महाप्रभुके वृन्दावन-गमनका वृत्तान्त अगले अध्यायोंमें पढ़ना आरम्भ कर दें। इति शम्।

श्रीहरिबाबाका बाँध
वैशाखी पूर्णिमाकी अर्धरात्रि
संवत् १९८९

भक्तचरणदासानुदास—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

चाहे जान न सकूँ, यह दूसरी बात है, किन्तु बाँसकी छिद्रोंवाली पोली मुरली, आकाशके समान नीला रंग, चमकीला किनारीदार पीला पीताम्बर, अरुण रंगके पतले और गुलगुलेसे प्यारे-प्यारे ओष्ठ, मन्द-मन्द मुसकराहटयुक्त मनोहर मुख और बड़े-बड़े कटीले कटाक्षोंयुक्त कमलके समान सुन्दर नेत्र, इनके अतिरिक्त जानने योग्य कोई दूसरी वस्तु ही नहीं। इसलिये जानमें या अनजानमें इन्हीं सबके लिये मैं पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।

श्रीविष्णुप्रियाजीको पादुकादान (पृ० २२)

श्रीहरिः

प्रभुके वृन्दावन जानेसे भक्तोंको विरह

सज्जनसङ्गो माभूद् यदि सङ्गो माऽस्तु तत्पुनः स्नेहः।
स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो माऽस्तु जीवितस्याशा॥*
(सु० र० भां० ९१। २०)

दक्षिणकी यात्रा समाप्त करनेके अनन्तर महाप्रभुको नीलाचलमें रहते हुए चार वर्ष हो गये। वृन्दावन जानेके लिये प्रभु प्रतिवर्ष सोचते थे, किन्तु रथ-यात्राके पश्चात् भक्त कहते चातुर्मासमें यात्रा निषेध है, वे कार्तिक आनेपर दिवाली करके जानेको कहते। फिर जाड़ा आ जाता, जाड़ा समाप्त होनेपर कहते बड़ी गर्मी है, पश्चिममें तो और भी अधिक है अब कहाँ जाइयेगा। इस प्रकार आज-कल करते-करते ही चार वर्ष व्यतीत हो गये। महाप्रभु राय रामानन्दजी तथा सार्वभौम भट्टाचार्य आदि भक्तोंके प्रेम-पाशमें इस प्रकार जकड़कर बँधे हुए थे कि वे स्वेच्छासे

---

* उत्तम बात तो यह है कि सज्जनोंका सङ्ग ही न हो, यदि कदाचित् सङ्ग हो ही जाय, तो उनसे स्नेह न हो, दैवयोगसे स्नेह भी हो जाय तो उनसे वियोग न हो और यदि वियोग हो तो फिर इस जीवनकी आशा न रहे। अर्थात् प्यारेके विरहकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है।

जानेमें समर्थ होनेपर भी इन लोगोंकी सम्मति लिये विना जाना नहीं चाहते थे। भक्तोंने जब देखा कि अबकी बार प्रभु वृन्दावन जानेके लिये तुले ही हुए हैं, तो उन्होंने विवशतापूर्वक अपनी स्वीकृति दे दी। अबके गौड़ीय भक्त रथ-यात्रा करके ही लौट गये थे, सदाकी भाँति उन्होंने चातुर्मास पुरीमें नहीं किया था। प्रभुने उनसे कह दिया था कि तुम चलो हम भी पीछेसे आयेंगे। इसी आनन्दमें भक्त प्रसन्नतापूर्वक चले गये थे।

वर्षाकाल समाप्त हो गया। कारका महीना आ गया। विजया-दशमीके दिन महाप्रभुने गौड़ होते हुए वृन्दावन जानेका निश्चय किया। प्रातःकाल उठकर वे नित्य-कर्मसे निवृत्त हुए। समुद्र-स्नान करके प्रभु लौटे भी नहीं थे कि इतनेमें ही, भक्तोंकी भीड़ लगनी आरम्भ हो गयी। धीरे-धीरे सभी मुख्य-मुख्य भक्त महाप्रभुके स्थानपर एकत्रित हुए। महा-प्रभु सभी भक्तोंको साथ लेकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये चले। मन्दिरमें पहुँचकर प्रभुने भगवान्से आज्ञा माँगी, उसी समय पुजारीने माला और प्रसाद लाकर प्रभुको दिया। भगवान्की प्रसादी, माला और महाप्रसादान्न पाकर प्रभु अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए और इसे ही भगवान्की आज्ञा समझकर मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए वे कटककी ओर चलने लगे। प्रभुके पीछे-पीछे सैकड़ों गौड़देशीय तथा उड़िया-भक्त आँसू बहाते हुए चल रहे थे। महाप्रभु उनसे बार-बार लौटनेके लिये कहते, उनसे आग्रह करते, चलते-चलते खड़े हो जाते और सबको प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करते हुए कहते—'बस, अब हो गया। अब आपलोग अपने-अपने घरोंको लौट जायँ। पुरुषोत्तम भगवान्की कृपा होगी, तो मैं शीघ्र ही लौटकर आपलोगोंके दर्शन करूँगा।' इस प्रकार प्रभु भाँति-भाँतिसे उन्हें समझाते, किन्तु कोई पीछे लौटता ही नहीं था, लौटना तो अलग रहा, पीछेकी ओर देखनेमें भी भक्तोंका हृदय फटता था, वे प्रभुके वियोगजन्य दुःखका स्मरण आते ही जोरोंसे रुदन करने लगते।

इस प्रकार भक्तोंको आग्रह करते-करते ही प्रभु भवानीपुर आ पहुँचे। महाप्रभुने अब आगे और चलना उचित नहीं समझा, अतः यहीं रात्रि-निवास करनेका निश्चय किया। इतनेमें ही पालकीपर चढ़कर राय रामानन्दजी भी प्रभुकी सेवामें आ पहुँचे। उनके छोटे भाई वाणीनाथजी भी भगवान्‌का बहुत-सा प्रसाद कई आदमियोंसे साथ लिवाकर भवानीपुर आ उपस्थित हुए। महाप्रभुने अपने हाथोंसे जगन्नाथजीका महाप्रसाद सभी भक्तोंको आग्रहपूर्वक खूब ही खिलाया और आपने भी भक्तोंकी प्रसन्नताके निमित्त साथ ही प्रसाद पाया। रात्रिभर सभीने वहीं विश्राम किया।

महाप्रभुके अत्यन्त आग्रहसे कुछ भक्त तो पुरीको लौट गये, किन्तु बहुत-से प्रभुके साथ ही चलनेके लिये तुले हुए थे। उनमें मुकुन्द, गोविन्द दत्त, गदाधर, दामोदर पण्डित, वक्रेश्वर, स्वरूप गोस्वामी, गोविन्द, चन्दनेश्वर, सार्वभौम भट्टाचार्य तथा रामानन्द राय आदि मुख्य थे। महाप्रभु इन सबके साथ भुवनेश्वर आये और वहाँसे दर्शन करके कटक पहुँचे। वहाँपर सभीने गोपाल भगवान्‌के दर्शन किये और सभी मिलकर संकीर्तन करने लगे। इसी समय स्वप्नेश्वर नामक एक ब्राह्मणने प्रभुका निमन्त्रण किया, महाप्रभु उसका निमन्त्रण स्वीकार करके उसके यहाँ भिक्षा करने गये। शेष सभी भक्तोंको राय रामानन्दजीने भोजन कराया। महाप्रभुने एक सुन्दर-से बकुलवृक्षके नीचे अपना आसन लगाया।

राय रामानन्दजी उसी समय कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्रजीके समीप गये और वहाँ जाकर उन्होंने प्रभुके शुभागमनका समाचार सुनाया। इस सुखद समाचारके सुनते ही महाराजके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। वे अस्तव्यस्त-भावसे प्रेममें विभोर हुए प्रभुके दर्शनोंके लिये चले। उनके पीछे उनके सभी मुख्य-मुख्य राज-कर्मचारी भी प्रभुकी चरण-वन्दना करनेके निमित्त चले। महाराज अति दीन-वेषसे आँखोंमें आँसू भरे हुए अत्यन्त

ही नम्रताके साथ नंगे ही पाँवों प्रभुके समीप जा रहे थे। उन्होंने दूर ही पालकी छोड़ दी थी और पैदल ही प्रभुके समीप पहुँचे। पहुँचते ही वे अधीर होकर प्रभुके पादपद्मोंमें गिर पड़े। महाराजको अपने पैरोंमें पड़े देखकर प्रभु जल्दीसे उठकर खड़े हो गये और उन्हें जोरोंसे आलिंगन करने लगे। महाप्रभुका प्रेमालिङ्गन पाकर महाराज बेसुध हो गये, प्रभुके नेत्रोंसे निरन्तर प्रेमाश्रु निकल रहे थे, वे अश्रु उन महाभाग महाराजके सभी वस्त्रोंको भिगो रहे थे। उन वस्त्रोंका भी सौभाग्य था। बड़ी देरतक यह करुण दृश्य ज्यों-का-त्यों ही बना रहा। फिर महाप्रभुने महाराजको प्रेमपूर्वक अपने समीप बैठाया और उनके शरीर, राज्य तथा कुटुम्ब-परिवारकी कुशल-क्षेम पूछी। बहुत देरतक महाराज प्रभुके समीप बैठे रहे।

महाराजके प्रणाम कर लेनेके अनन्तर क्रमशः सभी बड़े-बड़े राज-कर्मचारियोंने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और प्रभु-कृपाकी याचना की। महाप्रभुने उन सभीपर कृपा की और वे सभीसे प्रेमपूर्वक कुछ-न-कुछ बातें करते रहे।

महाराजने प्रभुकी यात्राके पथमें सर्वत्र ही उनके ठहरने तथा नियत समयपर जगन्नाथजीके प्रसाद पहुँचानेका प्रबन्ध कर दिया। बहुत-से आदमी पहलेसे ही तैयारी करनेके लिये भेजे गये कि जहाँ-जहाँ प्रभुका ठहरना हो, वहाँ वासस्थान तथा भोजनादिका सभी सुव्यवस्थित प्रबन्ध हो सके। महाप्रभुको पहुँचानेके लिये उन्होंने अपने हरिचन्दनेश्वर और मङ्गराज नामक दो राजमन्त्रियोंको राज्यकी सीमा पार करानेके निमित्त प्रभुके साथ कर दिये। महाप्रभुकी आज्ञा पाकर महाराज अपनी राजधानीको लौट गये।

चाँदनी रात्रि थी, ऋतु बड़ी सुहावनी थी, न तो गर्मी थी न जाड़ा। हाप्रभुने रात्रिमें ही यात्रा करनेका निश्चय किया। महाराजकी रानियाँ भी

प्रभुके दर्शनोंके लिये उत्सुकता प्रकट कर रही थीं, इसलिये महाराजने हाथियोंपर जरीदार पर्दे डलवाकर उन्हें रास्तेके इधर-उधर खड़ा कर दिया, जिससे वे महाप्रभुके भलीभाँति दर्शन कर सकें। महाप्रभु प्रेममें पागल हुए मन्द-मन्द गतिसे उधर जाने लगे। उनके पीछे हाथी, घोड़े तथा बहुत-से लोगोंकी भीड़ चली। इस प्रकार सभी भक्तोंके सहित प्रभु चित्रोत्पला नदीके किनारे आये। वहाँ महाराजकी ओरसे नौका पहलेसे ही तैयार थी। महाप्रभुने भक्तोंके सहित चित्रोत्पला नदीको पार किया और चतुर्द्वारमें आकर सभीने रात्रि व्यतीत की। जहाँसे प्रभुने चित्रोत्पलाको पार किया, वहाँ महाराजने प्रभुकी स्मृतिमें एक बड़ा भारी स्मृतिस्तूप बनवाया और उस घाटको तीर्थ मानकर स्नान करनेके निमित्त आने लगे।

गदाधर पण्डितका नाम तो पाठक जानते ही होंगे। ये महाप्रभुकी आज्ञासे क्षेत्र-संन्यास लेकर पुरीके निकट गोपीनाथजीके मन्दिरमें उनकी सेवा करते हुए निवास करते थे। किसी तीर्थमें घर-द्वारको छोड़कर प्रतिज्ञापूर्वक रहनेको क्षेत्र-संन्यास कहते हैं। वहाँ रहकर भगवत्-प्रीत्यर्थ ही सब कार्य किये जायँ, इसी सङ्कल्पसे पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें गदाधरजी निवास करते थे। जब महाप्रभु गौड़-देशको चलने लगे, तब तो उन्हें पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें रहना असह्य हो गया और वे सब-कुछ छोड़-छाड़कर प्रभुके साथ हो लिये। महाप्रभुके चरणोंमें उनका दृढ़ अनुराग था, वे महाप्रभुको परित्याग करके क्षणभर भी दूसरी जगह रहना नहीं चाहते थे। महाप्रभुने इन्हें बहुत समझाया, किन्तु ये किसी प्रकार भी लौटनेको तैयार नहीं हुए। जब महाप्रभुने अत्यन्त ही आग्रह किया, तब प्रेमजन्य रोषके स्वरमें इन्होंने कहा—'आप मुझे विवश क्यों कर रहे हैं। जाइये, मैं आपके साथ नहीं जाता। मैं तो नवद्वीपमें शचीमाताके दर्शनोंके लिये जा रहा हूँ। आप मेरे रास्तेको तो रोक ही न लेंगे। बस, इतना ही है कि मैं आपके साथ नहीं चलूँगा।' इतना कहकर ये प्रभुसे

अलग-ही-अलग चलकर कटक होते हुए यहाँपर आकर मिल गये। महाप्रभुने इन्हें प्रेमपूर्वक समझाते हुए कहा—'देखो, तुम जिद्द करते हो और अपनी बातके सामने किसीकी बात मानते नहीं यह अच्छी बात नहीं है। तुम सोचो तो सही, तुम्हारे गौड़ चलनेसे दो महान् पाप होंगे, एक तो गोपीनाथ भगवान्‌की पूजा रह जायगी, दूसरे तुम्हारी प्रतिज्ञा भङ्ग हो जायगी। इसलिये तुम नीलाचल ही लौट जाओ, मैं शीघ्र लौट आऊँगा।'

प्रेमके अश्रु बहाते हुए गदाधर पण्डितने कहा—'प्रभो! आपके लिये मैं सर्वस्वका त्याग कर सकता हूँ। आपके सामने प्रतिज्ञा कैसी? प्रतिज्ञा आपके ही लिये तो की है, जहाँ आप हैं वहीं नीलाचल है, इसलिये मैं नीलाचलसे पृथक् कभी हो ही नहीं सकता।'

महाप्रभुने कहा—'बाबा, तुम्हारा तो कुछ बिगड़ेगा नहीं। पाप सब मेरे ही सिर चढ़ेगा। यदि तुम मुझे पापी बनाना चाहते हो, तो भले ही मेरे साथ चलो, नहीं तो पुरी लौट जाओ।'

अधीरताके साथ गदाधर गोस्वामीने कहा—'प्रभो! सभी पाप मेरे सिर हैं। मैं सभी पापोंको सह लूँगा, किन्तु आपका वियोग नहीं सह सकता।'

तब महाप्रभुने कठोरताके साथ कहा—'गदाधर! तुम मुझे प्रसन्न करना चाहते हो, तो अभी पुरीको लौट जाओ। तुम्हारे साथ चलनेसे मुझे महान् कष्ट होगा। यदि तुम मेरा कुछ भी सम्मान करते हो, तो तुम्हें मैं अपनी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम पुरी लौट जाओ।' यह कहकर प्रभुने उनका गाढ़ालिङ्गन किया। प्रभुका आलिङ्गन पाते ही गदाधर पण्डित मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। अब आगे कहनेको कोई बात ही नहीं रही। उसी समय सुयोग देखकर प्रभुने पास खड़े

हुए सार्वभौम भट्टाचार्यको देखकर उनसे कहा—'भट्टाचार्य महोदय, इन्हें अपने साथ ही पुरी ले जाइये।'

भट्टाचार्य अवाक् रह गये। उन्हें कुछ कहनेको ही अवसर नहीं मिला। उन्होंने दुःखित चित्तसे प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया। प्रभु उन्हें प्रेमपूर्वक गलेसे लगाकर आगेके लिये चल दिये और ये खड़े-खड़े प्रभुकी ओर देखते हुए रोते ही रहे।

अब महाप्रभुके साथ परमानन्दपुरी, स्वरूप गोस्वामी, जगदानन्द, मुकुन्द, गोविन्द, काशीश्वर, हरिदास आदि सभी भक्त गौड़ जानेकी इच्छासे चले। याजपुरमें पहुँचकर प्रभुने उन दोनों राजमन्त्रियोंको भी कह-सुनकर लौटा दिया। उस दिन महाप्रभु रात्रिभर रामानन्दजीसे कृष्ण-कथा-कीर्तन करते रहे। रेमुना पहुँचकर राय रामानन्दजीको भी प्रभुने लौट जानेकी आज्ञा दी। ये दुःखित मनसे रोते-रोते प्रभुकी पद-धूलिको मस्तकपर चढ़ाकर पीछेको लौटे और महाप्रभु रेमुनाको पार करके आगेके लिये चल दिये।

महाप्रभु जिस ग्राममें भी पहुँचते, वहीं महाराज प्रतापरुद्रजीकी ओरसे प्रभुके स्वागतके निमित्त बहुत-से आदमी मिलते। वे महाप्रभुका खूब सत्कार करते। स्थान-स्थानपर जगन्नाथजीके प्रसादका पहलेसे ही प्रबन्ध था। इस प्रकार रास्तेमें कृष्ण-कीर्तन करते हुए और अपने शुभ दर्शनोंसे ग्राम-वासी तथा राजकर्मचारियोंको कृतार्थ करते हुए प्रभु उड़ीसा-राज्यकी सीमापर पहुँच गये।

जननीके दर्शन

जननी जन्मभूमिश्च जाह्नवी च जनार्दनः ।
जनकः पञ्चमश्चैव जकाराः पञ्च दुर्लभाः ॥*

(सु० र० भां० १६३।१७०)

नीलाचलसे प्रस्थान करते समय प्रभुने सार्वभौम आदि भक्तोंसे कहा था—'गौड़-देश होकर वृन्दावन जानेसे मेरे एक पन्थ दो काज हो जायँगे। प्रेममयी माताके दर्शन हो जायँगे। भागीरथी-स्नान और भक्तोंसे भेंट करता हुआ मैं रास्तेमें जन्म-भूमिके भी दर्शन करता जाऊँगा। महाप्रभु जनार्दनके हो जानेपर भी जननी, जन्मभूमि और जाह्नवीके प्रेम-को नहीं भुला सके थे। उनके विशाल हृदयमें इन तीनोंहीके लिये विशेष स्थान था। इन तीनोंके दर्शनोंके लिये वे व्यग्र हो रहे थे। उड़ीसा-प्रान्तकी अन्तिम सीमापर पहुँचते ही त्रिताप-हारिणी भगवती भागीरथीके मनको परम प्रसन्नता प्रदान करनेवाले शुभ दर्शन हुए। आज चिरकाल-के अनन्तर जगद्वन्द्य सुरसरि भगवती जाह्नवीके दर्शनमात्रसे ही प्रभु मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और—'गङ्गे-गङ्गे' कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे। वे गद्गद कण्ठसे गङ्गाजीकी स्तुति कर रहे थे। कुछ देरके अनन्तर प्रभु उठे और भक्तोंके सहित उन्होंने गङ्गाजीके निर्मल शीतल जल-में स्नान तथा आचमन किया। उड़ीसा-सीमा-प्रान्तके अधिकारीने प्रभुके स्वागत-सत्कारका पहलेसे ही विशेष प्रबन्ध कर रक्खा था, प्रभु-के दर्शनसे अधिकारी तथा सभी राज-कर्मचारियोंको परम प्रसन्नता हुई। वे प्रभुके पैरोंमें पड़कर रुदन करने लगे। प्रभुने उन्हें छातीसे चिपटा-

---

* जननी, जन्मभूमि, जाह्नवी (गङ्गाजी), जनार्दन और जनक (पिता) ये पाँच जकार संसारमें दुर्लभ हैं अर्थात् भाग्यशालीको ही इनके दर्शन होते हैं।

कर कृपा प्रदर्शित करते हुए उनके शरीरोंपर अपना कोमल हाथ फेरा। प्रभुका स्पर्श पाते ही वे प्रेममें उन्मत्त होकर, 'हरि बोल, हरि बोल' कहकर नृत्य करने लगे। प्रभुके आगमनका समाचार सुनकर आस-पासके सभी ग्रामोंके स्त्री-पुरुष तथा बालक-बच्चे प्रभुके दर्शनोंकी लालसासे घाटपर आ-आकर एकत्रित हो गये। वे सभी ऊपरको हाथ उठा-उठाकर नृत्य करने लगे और आकाशको हिला देनेवाली हरि-ध्वनिसे दिशा-विदिशाओं-को गुँजाने लगे।

उस पार गौड़-देशकी सीमा थी, गौड़-देशके सीमाधिकारी यवनने इस भारी कोलाहलको सुना। इसलिये उसने इसका असली कारण जाननेके लिये एक गुप्तचरको भेजा। उन दिनों दोनों राज्योंमें घोर तनातनी हो रही थी। यहाँसे गौड़ जानेके तीन रास्ते थे, तीनों ही युद्धके कारण बन्द थे, आपसमें एक-दूसरेको सदा भय ही बना रहता। वह गुप्तचर हिन्दूका वेष धारण करके प्रभुके समीप आया! प्रभुके दर्शन पाते ही वह अपने आपेको भूलकर प्रेममें उन्मत्त होकर जोरोंसे नृत्य करने लगा। उसी बेहोशीकी दशामें वह अपने स्वामीके समीप पहुँचा। प्रान्ताधिपने उससे उसकी प्रसन्नताका कारण पूछा। उसने गद्गद कण्ठसे ठहर-ठहर-कर कहा—'सरकार! क्या बताऊँ, जिन्हें मैं अभी देखकर आया हूँ, वे तो मानो सौन्दर्यके अवतार ही हैं। उनकी सूरत देखते ही मैं शरीरकी सुधि भूल गया। उनकी चितवनमें जादू है, मुसकानमें मादकता है और वाणीमें उन्मादकारी रस है। आप उन्हें एक बार देखभर लें, सब बातें भूल जायँगे और उनके बेदामोंके गुलाम बनकर कदमोंमें लोटपोट होने लगेंगे।'

उस गुप्तचरके मुखसे ऐसी बात सुनकर अधिकारीने अपने एक परम विश्वासी अमात्यको उड़ीसा-प्रान्तके अधिकारीके समीप भेजा और प्रभुके दर्शनकी अपनी इच्छा प्रकट की। मन्त्री महोदय भी प्रभुके

विश्वव्यापी प्रेमके प्रभावसे बचने नहीं पाये, वे भी उस अनुपम रसा-सवका पान करके छक-से गये, उन्होंने प्रेमभरे वचनोंमें अपने स्वामीके संवादको उड़िया-अधिकारीके समीप कह सुनाया। यवन अधिकारीकी ऐसी अभूतपूर्व अभिलाषाको सुनकर उड़ियाधिकारी प्रभुके त्रिलोकपावन प्रेमकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'महाप्रभु किसी एकके तो हैं ही नहीं, उनके ऊपर तो प्राणिमात्रका समानाधिकार है। आपके स्वामी यदि प्रभु-दर्शनकी इच्छा रखते हैं, तो हमारा सौभाग्य है, वे आयें और जरूर आयें। हमसे जैसा बन पड़ेगा उनका आदर-सत्कार करेंगे, किन्तु वे ससैन्य न पधारें, अपने दस-पाँच विश्वासी सेवकोंके ही साथ प्रभु-दर्शनके लिये आयें।'

इस समाचारको पाते ही यवनाधिकारी अपने दस-बीस विश्वासी सेवकोंके साथ हिन्दुओंकी-सी पोशाक पहनकर प्रभुके समीप आये। उन्होंने प्रभुकी चरण-वन्दना की। प्रभुने उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन प्रदान किया। वे बहुत देरतक प्रभुकी स्तुति-विनय करते रहे। उड़ियाधिकारीने उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया, उन्हें बहुत-सी वस्तुएँ उपहार-स्वरूप भेंटमें दीं और उनके साथ परम मैत्रीका व्यवहार किया। प्रभु-दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ समझकर उन लोगोंने प्रभुसे जानेकी आज्ञा माँगी, तब महाप्रभुके साथी भक्तोंमेंसे मुकुन्द दत्तने यवनाधिकारीको सम्बोधन करते हुए कहा—'महाशय, हमारे प्रभु गङ्गाजीके पार होना चाहते हैं, क्या आप पार होनेका समुचित प्रबन्ध कर देंगे।' यवनाधिकारीने प्रभुको प्रातःकाल पार पहुँचानेका वचन दिया और वह प्रभुको तथा सभी भक्तोंको प्रणाम करके अपने स्थानको लौट गया।

दूसरे दिन यवनाधिकारीकी भेजी हुई बहुत-सी नौकाएँ आ पहुँचीं। अधिकारीके प्रधान मन्त्रीने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम करके प्रस्थान करनेका निवेदन किया। महाप्रभु सभी उड़ीसा-प्रान्तके कर्मचारियोंको प्रेमाश्वासन

प्रदान करके नौकापर सवार हुए । उनकी नौकाके चारों ओर सशस्त्र सैनिकोंसे युक्त बहुत-सी नावें जलदस्युओंसे किसी प्रकारका भय न हो इस कारण प्रभुकी रक्षाके निमित्त आगे-पीछे चलीं। इधर किनारेपर खड़े हुए उड़िया-अधिकारी तथा ग्रामवासी आँसू बहाते हुए हरि-ध्वनि कर रहे थे, उधर नावपर ही प्रभु भक्तोंके साथ सङ्कीर्तन कर रहे थे, इस प्रकार प्रेमके साथ सङ्कीर्तन करते हुए मन्त्रेश्वर नामक नालेको पार करके प्रभु भक्तोंके सहित पिछलदह पहुँचे। वहाँसे प्रभुने मुसलमान अधिकारीको विदा किया और उसे अपने हाथसे जगन्नाथजीका प्रसाद दिया। वह प्रभु-दत्त प्रेमप्रसादको पाकर प्रसन्नता प्रकट करता हुआ और प्रभुजन्य वियोगसे अधीर होता हुआ वहाँसे लौट गया। महाप्रभु उसी नावसे पानीहाटी पहुँचे।

पानीहाटी घाटपर प्रभुके आनेका समाचार बात-की-बातमें फैल गया। चारों ओरसे स्त्री-पुरुष आ-आकर 'गौरहरिकी जय' 'शची-नन्दनकी जय' आदि बोल-बोलकर आकाशको गुँजाने लगे। घाटपर मनुष्योंकी अपार भीड़ एकत्रित हो गयी। किसी प्रकार राघव पण्डित प्रभुको अपने घर ले गये। वहाँ एक दिन ठहरकर दूसरे दिन प्रातःकाल ही प्रभु कुमारहाटी पहुँचे। नवद्वीपके श्रीवास पण्डितका एक घर कुमारहाटी भी था। उस समय वे सपरिवार वहीं थे, प्रभुके पधारनेसे उनके परिवारभरमें प्रसन्नता छा गयी। स्त्री-पुरुष बाल-बच्चे सभी आ-आकर प्रभुके चरणोंमें लोट-पोट होने लगे। काञ्चनपाड़ाके शिवानन्द सेन प्रभुको आग्रह-पूर्वक अपने घर ले गये और वहीं महाप्रभुने मुकुन्द दत्तके भाई वासुदेवके घरको भी अपनी चरण-रजसे पावन किया। एक दिन वहाँ रहकर प्रभु दूसरे दिन शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घरके लिये चले।

शान्तिपुरमें पहुँचनेके पूर्व ही नगरभरमें प्रभुके आगमनका हल्ला हो गया। लोग दौड़-दौड़कर प्रभुके दर्शनोंके लिये जाने लगे। महाप्रभु

उस अपार भीड़के सहित अद्वैताचार्यके घर आये। आचार्य अपने पुत्र अच्युतको साथ लेकर प्रभुके पैरोंमें पड़ गये। महाप्रभुने उन्हें उठाकर छातीसे लगाया और अच्युतके सिरपर बार-बार हाथ फिराने लगे।

इधर शचीमाताको भी किसीने जाकर समाचार सुनाया कि प्रभु शान्तिपुर आये हुए हैं। छः वर्षके बिछुड़े हुए अपने संन्यासी पुत्रके मुख-को देखनेके लिये माता व्यग्र हो उठी, उसने उसी समय आचार्य चन्द्र-शेखरको बुलाया। सभी भक्त बात-की-बातमें शचीमाताके आँगनमें आकर एकत्रित हो गये। सभी प्रभुके दर्शनोंके लिये व्यग्रता प्रकट कर रहे थे। उसी समय शचीमाताके लिये पालकी मँगायी गयी और माता भी अपने जगन्मान्य पुत्रके मुख देखनेकी इच्छासे शान्तिपुर जानेकी शीघ्रता करने लगी।

संसारमें मनुष्य सब बातोंका थोड़ा-बहुत अनुभव कर सकता है, किन्तु सती-साध्वी आर्य-ललनाओंकी विरह-वेदनाको समझनेकी और समझकर अनुभव करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है। भक्त तो अपने प्यारे प्रभुके दर्शन करने शान्तिपुर चले जायँगे। वृद्धा माता भी भक्तोंके साथ दौलापर चढ़कर शान्तिपुरमें अपने प्यारे लालका माथा सूँघ आवेगी और अपनी चिरदिनकी साधको पूर्ण कर आवेगी, किन्तु पतिव्रता विष्णुप्रियाकी क्या दशा होगी? दो कोसपर बैठे हुए भी अपने प्राणेश्वरके दर्शनसे वह वञ्चित ही रहेंगी। उनके लिये उनके पति नीलाचल हों चाहे शान्तिपुर दोनों ही स्थान समान हैं। हाय रे समाज! तैंने पतिव्रताओंके लिये इतनी कठोरता क्यों स्थापित की है? रात्रि-दिन जिनकी मूरति आँखोंमें नृत्य करती रहती है, प्रतिक्षण हृदय जिनका चिन्तन करता रहता है, वे ही प्राणरमण प्रियतम इतने समीप रहनेपर भी बहुत दूर ही बने हुए हैं। विष्णुप्रिया अपनी मनोव्यथाको किसके सामने प्रकट करतीं? प्रकट करनेकी बात भी तो नहीं थी, यह तो हृदयके गहरे घावकी आन्तरिक

कसक थी, इसे तो कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता था। बेचारी वाणीकी क्या सामर्थ्य जो उस वेदनाको व्यक्त कर सके। विष्णुप्रिया अपने पतिके शयनगृहमें जाकर चुपचाप बैठ गयीं। उस समय उनकी आँखोंमें एक भी आँसू नहीं था, उनका हृदय जल नहीं रहा था धीरे-धीरे सुलग रहा था, उसमेंसे कड़वा-कड़वा धुआँ निकलकर विष्णुप्रियाजीके कमलके समान विकसित मुखको म्लान बना रहा था। विष्णुप्रियाजी सामनेकी खूँटीकी ओर टकटकी लगाये देख रही थीं। एक-एक करके उस रात्रिकी सभी बातें आ-आकर उनकी दृष्टिके सामने प्रत्यक्ष नृत्य करने लगीं। इसी खूँटीपर महीन पीले रंगका उनके ओढ़नेका वस्त्र लटक रहा था। यहीं खाटपर मैं उनके अरुण रंगवाले कोमल चरणोंको धीरे-धीरे सुहरा रही थी। वे बार-बार मेरा आलिङ्गन करते और कहते—'तुम तो पगली हुई हो, रोती क्यों हो, हँस दो। अच्छा एक बार हँस दो' ऐसा कह-कहकर वे बार-बार मेरी ठोडीको अपनी नरम-नरम उँगलियोंसे ऊपरकी ओर उठाते थे, उसी समय मुझे नींद आ गयी। इन विचारोंके साथ-ही-साथ सचमुच विष्णुप्रियाजीको नींद आ गयी।

शचीमाता शान्तिपुर जानेके लिये तड़प रही थीं। उनका हृदय बाँसों ऊपरको उछल रहा था, वे सोचती थीं कि पंख होते तो मैं अभी उड़कर अपने निमाईके चन्द्रमाके समान शीतल मुखको चूमती और उसके सोनेके समान शरीरपर अपना हाथ फेरकर अपनी चिरदिनकी इच्छाको पूर्ण करती। वे अन्तिम समयमें विष्णुप्रियासे मिलनेके लिये उन्हें ढूँढ़ती हुई उसी घरमें जा पहुँचीं। वहाँ जाकर उन्होंने जो देखा उसे देखकर तो वे एकदम भयभीत हो उठीं। विष्णुप्रियाजीकी आँखें एकदम खुली हुई थीं, उनके पलक नहीं गिरते थे। चेहरेपर विरहजन्य वेदनाकी रेखाएँ व्यक्त होकर उनके आन्तरिक असह्य दुःखकी स्पष्ट सूचना दे रही थीं। उनका शरीर जड वस्तुके समान ज्यों-का-त्यों ही रखा था, उसमें

जीवनके कोई चिह्न नहीं थे। भयभीत होकर माताने पुकारा—'बेटी! बेटी! विष्णुप्रिया! हाय! बेटी! तू भी मुझे धोखा दे गयी क्या?' यह कहकर माता अपने काँपते हुए हाथोंसे उनके शरीरको झकझोरने लगीं। वह जल्दीसे उठकर इधर-उधर भौचक्की-सी देखती हुई जोरोंसे कहने लगी—'क्या, सचमुच वे मुझे सोती ही छोड़कर चले गये। हाय! मैं लुट गयी। मेरा सर्वस्व अपहरण हो गया। यह देखो, खूँटी तो खाली पड़ी है, उनका पीताम्बर भी नहीं है।' यह कहकर विष्णुप्रिया पछाड़ खाकर फिर गिर पड़ी। माताने अपने हाथका सहारा देते हुए कहा—'बेटी, तू क्या कह रही है? अरी बावरी, यह तुझे हो क्या गया है, मैं शान्तिपुर जा रही हूँ। तू क्या कहती है?'

माता अपनी बहूकी अन्तर्वेदनाको समझ गयी। नारीहृदयकी वेदना यत्किञ्चित् नारी ही समझ सकती है। विष्णुप्रियाजीको अब होश हुआ। उन्होंने अपने भावोंको छिपाते हुए कहा—'अम्माजी, मुझे नींद आ गयी थी, उसीमें न जाने मैंने कैसा स्वप्न देखा। उसीमें कुछ बकने लगी होऊँगी। हाँ, आप शान्तिपुर जाती हैं, जायँ। उन्हें देख आवें। मेरे भाग्यमें उनके दर्शन नहीं बदे हैं। न सही मेरा इतना ही सौभाग्य क्या कम है कि उनके दर्शनके लिये लाखों आदमी जाते हैं। आप जायँ मेरी चिन्ता न करें।'

अपनी पुत्रवधूके ऐसे दृढ़तापूर्ण वचनोंको सुनकर माताका हृदय फटने लगा। उन्होंने अपनी छातीको कड़ी बनाकर उस आन्तरिक दुःखको प्रकट नहीं किया और अपनी बहूकी ओर देखती हुई वे पालकीमें जाकर बैठ गयीं। नित्यानन्द, वासुदेव, चन्द्रशेखर आचार्यरत्न तथा अन्यान्य सैकड़ों भक्त सङ्कीर्तन करते हुए शचीमाताकी पालकीके पीछे-पीछे चले।

महाप्रभुने जब माताके आगमनका समाचार सुना तो उठकर दरवाजेपर आ गये। उन्होंने अपने हाथोंसे माताको पालकीसे उतारा और वे अबोध बालककी भाँति उनके चरणोंमें लोटने लगे। प्रभुके चरणोंमें नित्यानन्दजी लोट रहे थे और अन्यान्य भक्त एक-दूसरेके चरणोंको पकड़े हुए रुदन कर रहे थे। बहुत देरतक यह करुणापूर्ण प्रेम-दृश्य ज्यों-का-त्यों ही बना रहा। तब माताने अपने काँपते हुए हाथोंसे सिंहके समान अपने तेजस्वी संन्यासी पुत्रको उठाकर छातीसे लगाया। माताके स्तनोंसे आप-ही-आप दूध निकलने लगा और उस दूधसे पृथ्वी भीग गयी। माताने पुत्रके अङ्गमें लगी हुई धूलि अपने आँचलसे पोंछी, पुत्रके मुखको चूमा, उनके माथेको सूँघा और सम्पूर्ण शरीरपर हाथ फिराती रही। प्रेमके कारण वह कुछ कह नहीं सकी। बहुत देरके अनन्तर प्रभु माताको साथ लेकर भीतर घरमें गये। वे भाँति-भाँतिसे माताकी स्तुति करने लगे। अपने गृह-त्यागरूपी अपराधके निमित्त क्षमा माँगने लगे और माताके प्रति असीम प्रेम प्रदर्शित करने लगे। माता इतने दिनोंके पश्चात् अपने प्यारे पुत्रको पाकर परम प्रसन्न हुई और अपने आँसुओंसे उनके वस्त्रोंको भिगोती हुई भाँति-भाँतिके प्रेम-वाक्य कहने लगी। उस समय माता-पुत्रका यह सम्मिलन अपूर्व ही था। रात्रिमें सभी भक्तोंने मिल-कर सङ्कीर्तन किया। माताने अपने हाथोंसे अपने संन्यासी पुत्रको भोजन कराया। माताकी सन्तुष्टिके निमित्त उस दिन प्रभुने खूब डटकर भोजन किया। दूसरे दिन प्रभुने भक्तोंके सहित माताको विदा किया। माताने घर आनेका आग्रह किया। प्रभुने वचन दिया कि अभी तो मैं पाँच-सात दिन यहीं हूँ, हो सका तो आऊँगा। माता फिर मिलनेकी आशा रखती हुई नवद्वीपको लौट गयीं।

विष्णुप्रियाजीको संन्यासी स्वामीके दर्शन

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥*
(सु०र०भां०३६६।१७)

मेरा अपना ऐसा विश्वास है और शास्त्रोंका भी यही सिद्धान्त है कि यह संसार एकान्तवासी तपस्वी महापुरुषोंके पुण्यसे तथा पतिव्रताओं-के पातिव्रतके प्रभावसे ही स्थित है। शास्त्रोंका यही अभिमत है कि संसार धर्मपर ही स्थित है और स्त्री-पुरुषोंके लिये संसारी भोग्य पदार्थोंकी आसक्ति छोड़कर प्रभुसे प्रेम करना या मन, वचन तथा कर्मसे पातिव्रत-धर्मका पालन करना यही परमधर्म बताया गया है। तपस्वीको मान-सम्मानकी पीछेसे इच्छा हो सकती है। भगवत्-भक्ति भी प्रसिद्धिके लिये की जा सकती है, किन्तु पतिव्रताको तो संसारसे कुछ मतलब ही नहीं। वह तो मालती कुसुमकी भाँति निर्जन प्रदेशमें विकसित होती है और अपने प्यारे-को प्रसन्न करके अन्तमें मुरझाकर वहीं जीर्ण-शीर्ण हो जाती है,उसकी गुप्त सुगन्धि संसारमें व्याप्त होकर लोगोंका कल्याण अवश्य करती है, किन्तु इसे तो कोई परम विवेकी पुरुष ही समझ सकता है। सर्वसाधारण लोगों-को तो उसके अस्तित्वका भी पता नहीं। इसीलिये कहता हूँ, पातिव्रत-

---

* सती स्त्रीका यही परमधर्म है कि (अग्निको साक्षी देकर एक वार) जिसने उसका पाणिग्रहण किया है, वह पति चाहे जीवित हो या मर गया हो, बस, उसीके साथ पतिलोकमें रहनेकी इच्छा करती हुई उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई भी आचरण न करे।

धर्म, योग, यज्ञ, तप, पाठ-पूजा और अन्य सभी साधनोंसे परमश्रेष्ठ है। एक सच्ची पतिव्रता सम्पूर्ण संसारको हिला सकती है, किन्तु ऐसी पतिव्रता बहुत थोड़ी होती हैं।

पाठकवृन्द! विष्णुप्रियाजीकी मनोव्यथाको समझें। इस अल्प वयस् में उन्हें अपने प्राणेश्वरकी असह्य विरह-वेदना सहनी पड़ रही है। उनके प्राणेश्वर भक्तोंके लिये भगवान् हैं। वे जीवोंका उद्धार भी करते हैं। असंख्य जीव उनकी कृपासे संसार-सागरसे पार हो गये। भक्तोंके लिये वे साक्षात् नारायण हैं। हुआ करें, उनके लिये तो वे उनके पति-हृदय-रमण पति ही हैं। वे उनके पास स्थूल शरीरसे नहीं हैं तो न सही, उनके हृदयमें तो पतिकी मूर्ति सदा विराजमान है, वे पतिको छोड़कर और किसीका चिन्तन ही नहीं करतीं! अहा, धन्य है उनकी एकनिष्ठ पतिभक्तिको!

विष्णुप्रियाजीकी आन्तरिक इच्छा थी कि एक बार इस जीवनमें अपने आराध्यदेवके प्रत्यक्ष दर्शन और हो जायँ किन्तु वे अपनी इच्छाको प्रकट किस प्रकार करतीं और किसके सामने प्रकट करतीं? यदि किसीसे कहतीं भी तो वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं, किसीकी बात मानने ही क्यों लगे? इसलिये अपने मनोगत भावोंको हृदयमें ही दबाकर वे अपने इष्टदेवके चरणोंमें ही मनसे प्रार्थना करने लगीं। वे प्रेमाकर्षणपर विश्वास रखती हुई कहने लगीं—'वे तो मेरे घटकी एक-एक बातको जाननेवाले हैं, मेरा यदि सच्चा प्रेम होगा, तो वे यहीं मुझे दर्शन देने आ जायँगे।' यही सोचकर वे चुपचाप बैठी रहीं। सचमुच प्रेममें बड़ा भारी आकर्षण है। हृदयमें लगन होनी चाहिये, प्यारेके प्रति पूर्ण विश्वास हो, हृदय उसके लिये छटपटाता हो और स्नेह सच्चा हो तो फिर मिलनेमें सन्देह ही क्या है?

जापर जाको सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

मन कोई दस-बीस तो है ही नहीं। अग्निके समान सर्वत्र मन एक ही है। पात्र-भेदसे मन वैसा ही गन्दा और निर्मल बन जाता है। यदि

दो मन निर्मल और पवित्र बन जायँ तो शरीर चाहे कहीं भी पड़े रहें, दोनोंके मनोगत भावोंको दोनों ही लाख कोसपर बैठे हुए भी समझनेमें समर्थ हो सकते हैं। शान्तिपुरमें बैठे हुए प्रभुको भी विष्णुप्रियाजीका बेतारका तार मिल गया। प्रभु मानो उन्हींको कृतार्थ करने नवद्वीप जानेकी इच्छासे अद्वैताचार्यसे विदा लेकर विद्यानगरकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर प्रभु सार्वभौम भट्टाचार्यके भाई वाचस्पतिके घरपर ठहरे। लोगोंकी अपार भीड़ प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगी। जो भी सुनता वही नावसे, घड़ोंसे तथा हाथोंसे तैरकर गंगाजीको पार करके विद्यानगर प्रभुके दर्शनोंके लिये चल देता। उस समय दोनों घाटोंपर नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखायी देते। प्रभुके वहाँ पहुँचनेसे एक प्रकारका मेला-सा लग गया। गंगाजीके झाउओंका जङ्गल मनुष्योंके पदाघातसे चूर्ण होकर सुन्दर राजपथ बन गया। लोग महाप्रभुकी जयजयकार करते हुए महान् कोलाहल करते और प्रभु-दर्शनोंकी अपनी आकुलताको प्रकट करते।

महाप्रभु इस भीड़-भाड़ और कोलाहलसे ऊबकर अपने दो-चार भक्तोंके साथ धीरेसे मनुष्योंकी दृष्टि बचाते हुए विद्यानगरसे कुलियाके लिये चले गये। प्रभुके दर्शन न पानेसे लोग वाचस्पति पण्डितको कोसने लगे। उन्हें भाँति-भाँतिकी उल्टी-सीधी बातें सुनाने लगे। अन्तमें जब उन्हें पता चला कि प्रभु तो यहाँसे चुपके ही निकल गये, तब तो उनके दुःखका ठिकाना नहीं रहा, वे सभी प्रभुके विरहमें जोरोंसे रुदन करने लगे। इतनेमें ही एक ब्राह्मणने आकर समाचार दिया कि प्रभु तो कुलिया पहुँच गये। तब वाचस्पति उस अपार भीड़के अग्रणी बनकर कुलियाकी ही ओर चले। कुलिया पहुँचकर लोगोंने प्रभु-दर्शनोंकी अपनी व्यग्रता प्रकट की, तब प्रभुने छतपर चढ़कर अपने दर्शनोंसे लोगोंको कृतार्थ किया। बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको

धन्य मानते हुए अपने-अपने स्थानोंको लौट गये, किन्तु जितने ही लोग जाते थे, उतने ही और भी बढ़ जाते थे, सायंकालतक यही दृश्य रहा।

प्रभुके ऐसे लोकव्यापी प्रभावको देखकर पहले जिन्होंने इनसे द्वेष किया था, वे सभी अपने पूर्व-कृत्योंपर पश्चात्ताप प्रकट करते हुए प्रभुकी शरणमें आये और अपने-अपने अपराधोंके लिये उनसे क्षमा चाही। विरोधियोंके हृदय प्रभुके संन्यासको देखते ही नवनीतके समान कोमल हो गये थे। प्रेमका त्याग ही तो भूषण है, त्यागके बिना प्रेम प्रस्फुटित होता ही नहीं। संग्रही और परिग्रहीके जीवनमें प्रेम किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है, प्रभुके प्रेमके प्रभावसे उन पापकर्मवाले निन्दकोंके हृदयोंमें भी प्रेमकी तरंगें हिलोरें मारने लगीं। सबसे पहले तो विद्यानगरके परम भागवती पण्डित देवानन्दजी प्रभुके शरणापन्न हुए और उन्होंने अपने ही अपराधभञ्जनकी याचना नहीं की, किन्तु प्रभुसे यह वचन ले लिया कि यहाँ आकर जो कोई भी आपसे अपने पूर्वकृत अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करेगा, उसे आप कृपापूर्वक क्षमा-दान दे देंगे। महाप्रभुके विशाल हृदयमें किसीके पूर्वकृत अपराधोंका स्मरण ही नहीं था, वे महापुरुष थे। वे संसारी लोगोंके स्वभावसे विवश होकर कहे हुए वचनोंका बुरा ही क्यों मानने लगे। वे तो जानते थे—'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही सभी चेष्टाएँ करता है, इसलिये किसीकी कैसी भी बातका बुरा न मानना चाहिये, फिर भी उन्होंने देवानन्दजीकी प्रसन्नताके निमित्त अपराध-भञ्जनकी स्वीकृति दे दी। सभीने प्रभुके चरणोंमें आत्म-समर्पण किया और प्रभुने उन्हें गलेसे लगाया।

प्रभुके छोटे-बड़े सभी भक्त तथा भक्तोंकी स्त्रियाँ-बच्चे यहाँ कुलियामें आकर उनके दर्शन कर गये थे। शचीमाता शान्तिपुरमें ही मिल

आयी थीं। कोई भी भक्त प्रभु-दर्शनोंसे वञ्चित नहीं रहा। महाप्रभु पाँच-सात दिन कुलियामें ठहरे। इतने दिनोंतक कुलियामें मेला-सा ही लगा रहा। इतनेपर भी एकान्तमें प्रभुका चिन्तन करती हुई विष्णुप्रियाजी अपने घरके भीतर ही बैठी रहीं। वे एक सती साध्वी कुल-वधूकी भाँति घरसे बाहर नहीं निकलीं, मानों उन्हींको अपने दर्शनोंसे कृतार्थ करनेके निमित्त प्रभुने नवद्वीप जानेकी इच्छा प्रकट की। भक्तोंके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसी समय नौका मँगायी गयी और प्रभु अपने दस-पाँच अन्तरङ्ग भक्तोंके साथ गंगा पार करके नवद्वीप घाटपर पहुँचे। घाटकी सीढ़ियोंपर चढ़कर प्रभु शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीजीकी कुटियापर पहुँचे। ब्रह्मचारीजी अपने भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए प्रभुके पैरोंमें लोट-पोट होने लगे। क्षणभरमें ही यह समाचार सम्पूर्ण नगरमें फैल गया। लोग चारों ओरसे आ-आकर प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ मानने लगे। समाचार पाते ही शचीमाता भी जैसे बैठी थीं, वैसे ही दौड़ी आयीं। प्रभुने माताकी चरण-वन्दना की। माता अपने अश्रुओंसे प्रभुके वस्त्रोंको भिगोने लगी। प्रभु चुपचाप खड़े कुछ सोच रहे थे, किसीकी कुछ कहनेकी हिम्मत नहीं हुई। तब प्रभु पैरोंमें खड़ाऊँ पहने धीरे-धीरे शचीमाताके साथ घरकी ओर चलने लगे। एक-एक करके उन्हें सभी बातें स्मरण होने लगीं। पाँच-छः वर्ष पूर्व जिस घाटपर स्नान करते थे, वह घाट इतने आदमियोंके रहनेपर भी सूना-सा प्रतीत हुआ। सभी पूर्व-परिचित वृक्ष हिल-हिलकर मानो प्रभुका स्वागत कर रहे हों। वे ही भवन, वे ही अट्टालिकाएँ, वे ही प्राचीन पथ, वे ही देवस्थान प्रभुकी स्मृतिको फिरसे नूतन बनाने लगे। महाप्रभु नीची निगाह किये हुए आगे-आगे जा रहे थे। पीछेसे लोगोंकी अपार भीड़ हरिध्वनि करती हुई आ रही थी। घरके सामने आकर प्रभु खड़े हो गये। विष्णुप्रियाजीका दिल धड़कने लगा। वे अपने प्रेमके इतने भारी वेगको सहन करनेमें समर्थ न हो सकीं।

झरोखेमेंसे उन्होंने अपने जीवनसर्वस्वकी झाँकी की। सिर मुँड़े हुए और गेरुए वस्त्र धारण किये हुए प्रभुको विष्णुप्रियाजीने अभी सर्वप्रथम देखा है। उनके प्रकाशमान चेहरेको देखकर विष्णुप्रियाजी चित्रमें लिखी मूर्तिके ही समान बन गयीं। उनके नेत्रोंमेंसे निकलनेवाले निरन्तरके अश्रुकण ही उनकी सजीवताका समर्थन कर रहे थे।

विष्णुप्रियाजीकी इच्छा अपने प्राणेशके पाद-पद्मोंमें प्रणत होकर कुछ प्रार्थना करनेकी थी, किन्तु इतनी अपार भीड़में कुल-वधू बाहर कैसे जाय, यही सोचकर वे दुविधामें पड़ गयीं। फिर उन्होंने सोचा जब ये यहाँतक आये हैं, संन्यासी होकर भी उन्होंने इतनी अनुकम्पा की है, तब मुझे बाहर जानेमें अब क्या लाज? लोक-लाज सब इन्हींके चरणों-की प्राप्तिके ही निमित्त तो है, जब ये चरण साक्षात् सम्मुख ही उपस्थित हैं, तब इनके स्पर्श-सुखसे अपनेको वञ्चित क्यों रखूँ? यह सोचकर विष्णुप्रियाजी जैसे बैठी थीं वैसे ही प्रभुके पादपद्मोंका स्पर्श करने चलीं।

उन्होंने वेणी बाँधना बन्द कर दिया था, शरीरके सभी अङ्गोंके आभूषण उतार दिये थे, आहार भी बहुत ही कम कर दिया था। नित्य-के कम आहारसे उनका शरीर क्षीण हो गया था। वे निरन्तर प्रभुका ही ध्यान किया करती थीं। प्रभु-दर्शनोंकी लालसासे क्षीणकाय, मलिन-वसना विष्णुप्रियाजी अपने सम्पूर्ण शरीरको सङ्कुचित बनाती हुई जल्दी-से प्रभुकी ओर चलीं। प्रभु दृष्टि उठाकर किसीकी ओर नहीं देखते थे, वे पृथिवीकी ही ओर खड़े-खड़े ताक रहे थे। उसी समय उन्होंने देखा, मलिन वस्त्र पहने एक स्त्री उनके चरणोंमें आकर गिर पड़ी। स्त्री-स्पर्श-से भयभीत होकर प्रभु दो कदम पीछे हट गये। विष्णुप्रियाजी सुबकियाँ भर-भरकर धीरे-धीरे रुदन करने लगीं। प्रभुने भर्राई हुई आवाजमें पूछा—'तुम कौन हो?'

हाय ! रे वैराग्य ! तेरी ऐसी कठोरताको बार-बार धिक्कार है, जो अपने शरीरका आधा अङ्ग कही जाती है, जिसके लिये स्वामीको छोड़कर दूसरा कोई है ही नहीं, उसीका निर्दयी स्वामी, उसके जीवनका सर्वस्व, उसका इष्टदेव उससे पूछता है—'तुम कौन हो ?' आकाश ! तू गिर क्यों नहीं पड़ता ! पृथ्वी ! तू फट क्यों नहीं जाती ? विष्णुप्रियाजी चुप रहीं, सोचा, कोई दूसरा ही मेरा परिचय करा दे, किन्तु दूसरे किसकी हिम्मत थी ? सभीकी वाणी बन्द हो गयी थी। इतनी भारी भीड़ उस समय बिल्कुल शान्त हो गयी थी, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। विष्णुप्रियाजीने जब देखा कोई भी कुछ नहीं कहता, तब ये स्वयं ही धीरे-धीरे करुण-स्वरमें कहने लगीं—'मैं आपके चरणोंकी अत्यन्त ही क्षुद्र दासी हूँ।'

महाप्रभुको अब चेत हुआ, उन्होंने कुछ ठहरकर कहा—'तुम क्या चाहती हो ?'

अत्यन्त ही कातरवाणीमें उन्होंने कहा—'मैं आपकी कृपा चाहती हूँ।'

प्रभुने नीची दृष्टि किये हुए कहा—'विष्णुप्रिये ! तुम अपने नामको सार्थक करो। संसारमें विष्णु-भक्ति ही सार है, उसीको प्राप्त करके इस जीवनको सफल बनाओ।'

रोते-रोते विष्णुप्रियाजीने कहा—'आपके अतिरिक्त कोई दूसरे विष्णु हैं, इस बातको मैं नहीं जानती, और जाननेकी इच्छा भी नहीं है। मेरे तो विष्णु, कृष्ण, शिव जो भी कुछ हैं आप ही हैं। आपके चरणोंके अतिरिक्त मुझे कोई दूसरा आश्रय नहीं।'

इन हृदयविदारक वचनोंको सुनकर वहाँ खड़े हुए सभी स्त्री-पुरुषोंका हृदय फटने लगा। सभीके नेत्रोंसे जल-धारा बहने लगी। विष्णुप्रियाजीने फिर कहा—'प्रभो ! सुना है, आप जगत्‌का उद्धार करते हैं, फिर

अभागिनी विष्णुप्रियाको जगत्से बाहर क्यों निकाल दिया गया है, इसके उद्धारकी बारी क्यों नहीं आती ?'

प्रभुने कहा—'तुम्हारी क्या अभिलाषा है ?' सुबकियाँ भरते हुए ठहर-ठहरकर विष्णुप्रियाजीने कहा—'मुझे जीवन-यापन करनेके लिये कुछ आधार मिलना चाहिये। आपके चरणोंमें यह कङ्गालिनी भिखारिणी उसीकी भीख माँगती है।'

थोड़ी देर सोचकर प्रभुने अपने पैरोंके दोनों खड़ाउओंको उतारते हुए कहा—'देवि ! हम संन्यासियोंके पास तुम्हें देनेके लिये और है ही क्या ? यह लो, तुम इन पादुकाओंके ही सहारे अपने जीवनको बिताओ।'

इतना सुनते ही विष्णुप्रियाजीने धूलिमें सने हुए अपने मस्तकको ऊपर उठाया और काँपती हुई उँगलियोंसे उन दोनों खड़ाउओंको सिर-पर चढ़ाकर वे रुदन करने लगीं। उस समय जनसमूहमें हाहाकार मच गया, सभी चीत्कार मारकर रुदन करने लगे। प्रभु उसी समय माताको प्रणाम करके लौट पड़े। माता अपने प्यारे पुत्रको जाते देखकर मूर्च्छित हो पृथिवीपर गिर पड़ी, प्रभु पीछेकी ओर बिना देखे हुए ही जल्दीसे भीड़को चीरते हुए आगेको चलने लगे। बहुत-से भक्त जल्दीसे आगे चलकर लोगोंको हटाने लगे। इस प्रकार थोड़ी देर ही नवद्वीपमें ठहरकर प्रभु नावसे उस पार पहुँच गये और वृन्दावन जानेकी इच्छासे गङ्गाजीके किनारे-किनारे ही आगेकी ओर चलने लगे। सैकड़ों मनुष्य घर-बारकी कुछ भी परवा न करके उसी समय प्रभुके साथ-ही-साथ वृन्दावन जानेकी इच्छासे उनके पीछे-पीछे चलने लगे। इस प्रकार तुमुल हरिध्वनि करते हुए सागरके समान वह अपार भीड़ प्रभुके पथका अनुसरण करने लगी।

वृन्दावनके पथमें

सुजनं व्यजनं मन्ये चारुवंशसमुद्भवम् ।
आत्मानं च परिभ्राम्य परतापनिवारणम् ॥ *

(सु० र० भां० ४७ । १८)

पुरीसे बहुत-से भक्त प्रभुके साथ वृन्दावन जानेकी इच्छासे आये थे और बहुत-से भक्त नवद्वीपसे उनके साथ हो लिये थे इसलिये प्रभुके साथ वृन्दावन चलनेवालोंकी एक खासी भीड़ हो गयी थी। जिस प्रकार राजा, महाराजा और सामन्तगण विजयलाभ करनेके लिये दूसरे देशपर चढ़ाई करते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णप्रेममें विभोर हुए भक्त प्रभुके साथ आनन्द और उत्साहके साथ वृन्दावनकी ओर जा रहे थे। गङ्गाजीके किनारे-किनारे कार्तिक मासकी शरीरको सुहावनी लगनेवाली धूपमें सभी संकीर्तन करते हुए दौड़ लगा रहे थे। जिनके साथ साकार स्वरूप धारण करके प्रेमदेव चल रहे हों उनके आनन्दका अनुमान लगा ही कौन सकता है ? जिस गाँवमें मध्याह्न होता, वहीं पड़ाव पड़ जाता। बात-की-बातमें ग्रामवासी प्रभुके सभी साथियोंके भोजन आदिका प्रबन्ध कर देते। महाप्रभु भिक्षा करके और ग्रामवासियोंको श्रीकृष्णप्रेम प्रदान करके आगे चल देते। इस प्रकार अनेक ग्रामोंको अपनी पद-धूलिसे पावन बनाते हुए तथा ग्रामवासियोंको भगवन्नाम-सुधा पिलाते हुए अपने प्यारेकी दर्शन-लालसासे प्रभु प्रेममें उन्मत्त हुए आगे बढ़ रहे थे।

एक दिन भिक्षा करनेके अनन्तर मुखशुद्धिके निमित्त प्रभुने गोविन्द-घोषकी ओर हाथ बढ़ाया। घोष महाशय जानते थे, कि प्रभु भिक्षाके अनन्तर मुख-शुद्धिके निमित्त कुछ अवश्य खाते हैं, इसलिये वे गाँवसे

---

* उत्तम वंशमें उत्पन्न हो अपने शरीरको घुमाकर दूसरोंके सन्ताप दूर करनेवाले सज्जन पुरुषको मैं पंखेके समान समझता हूँ। (पंखा भी अपनेको घुमाकर औरोंका ताप हरता और अच्छे बाँसका बनता है)।

एक हरीतिकी (हर्र) माँग लाये थे। उन्होंने हरीतिकीका एक टुकड़ा प्रभुके हाथपर रख दिया, प्रभु उसे खा गये।

दूसरे दिन फिर प्रभुने भिक्षाके अनन्तर हाथ बढ़ाया। घोष महोदयने दूसरे दिनकी बची हुई आधी हरीतिकी अपने वस्त्रके छोरमें बाँध रखी थी, प्रभुके हाथ बढ़ाते ही उन्होंने जल्दीसे उसे वस्त्रमेंसे खोलकर उनके हाथपर रख दी। हरीतिकीके टुकड़ेको देखकर प्रभु हाथको ज्यों-का-त्यों ही किये रहे। उन्होंने उसे मुँहमें नहीं डाला। थोड़ी देर सोचकर वे कहने लगे—'गोविन्द! यह हरीतिकी तुमने कहाँ पायी?'

अत्यन्त ही नम्रताके साथ घोष महाशयने कहा—'प्रभो! कलकी शेष बची हुई हरीतिकी हमने बाँध रखी थी, वही यह है।'

प्रभुने कुछ गम्भीरताके साथ कहा—'तुमने कलकी आजके लिये क्यों बाँध रखी?'

गोविन्द प्रभुकी गम्भीर चेष्टाको देखकर डर गये, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वे उदास-भावसे पृथिवीकी ओर देखने लगे। तब प्रभु उसी स्वरमें धीरे-धीरे कहने लगे—'जिनकी संग्रह करनेकी आदत हो जाती है, वे साधु होनेपर भी अपनी आदतको नहीं छोड़ते। अभी तुम्हारी संग्रह करनेकी इच्छा कम नहीं हुई। साधुके लिये संग्रह करना दूषण है और गृहस्थको थोड़ा-बहुत संग्रह करना भूषण है। इसलिये अब तुम मेरे साथ नहीं रह सकते। यहीं कहीं कुटिया बनाकर रह जाओ और विवाह करके अनासक्त-भावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ कार्य करो।'

इस बातको सुनते ही गोविन्द जोरोंसे रुदन करने लगे। प्रभुने उनकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा—'मैंने तो वैसे ही कह दिया, तुम स्वयं बड़े भागवत हो, तुमने केवल मेरे स्नेहके वशीभूत होकर ही ऐसा आचरण किया। कोई बात नहीं है, तुम यहीं रहकर भगवान् गोपीनाथजीकी सेवा-पूजा करो। भगवान्‌की सेवाके लिये विवाह किया जाय, तो

उसमें हानि ही क्या है ?' गोविन्द घोषने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और गंगा-किनारे कुटिया बनाकर वे रहने लगे। प्रभु-आज्ञानुसार उन्होंने विवाह भी किया। एक पुत्रको छोड़कर उनकी पतिव्रता पत्नी परलोकगामिनी बन गयी। कुछ कालके अनन्तर पुत्रने भी माताके पथका अनुसरण किया। पुत्रशोकसे दुखी होकर भगवान्की सेवा-पूजा छोड़कर वे प्राण त्यागनेके लिये उद्यत हो गये। उन्होंने न तो भगवान्को ही भोग लगाया और न स्वयं ही कुछ खाया। तब एक दिन स्वप्नमें भगवान्ने कहा—'तुमने हमारी सेवा व्यर्थमें ही स्वीकार की। एक पिता बहुतसे पुत्रोंसे प्यार करता है और उनका समानभावसे लालन-पालन भी करता है, किन्तु हम तो इकलखोरे पुत्र हैं। हम अपने दूसरे भाईको नहीं देख सकते। हम एक बेटेवाले बापके ही पुत्र बनकर रह सकते हैं। हमारा बाप हमारे किसी दूसरे भाईकी इच्छा करे यह हमें पसन्द नहीं है। इसलिये हमारे साथ तुम्हारा दूसरा पुत्र कैसे रह सकता था ? एक पुत्र तो मर ही गया, अब हमें भी मारना चाहते हो, तो तुम्हारी इच्छा। वैसे हम तुम्हारे पिण्डदान और श्राद्धादि कर्म करनेके लिये स्वयं ही उपस्थित हैं, फिर दूसरे पुत्रका क्या करोगे ?' इस बातसे गोविन्दजीको सन्तोष हुआ और वे फिर पूर्ववत् भगवान्की सेवा-पूजा करने लगे। गोविन्द घोषकी मृत्युके अनन्तर भगवान्ने पुत्ररूपसे स्वयं उनके सभी श्राद्धादि कर्म कराकर अपनी भक्तवत्सलताको सार्थक किया। धन्य है ऐसे गोपीनाथ-को और धन्य है उन महाभाग गोविन्द घोषको जिनकी भक्तिके कारण जगत्-पिताने पुत्ररूपसे उनके श्राद्धादि कर्म किये।

महाप्रभु चलते-चलते रामकेलि नामक नगरके निकट पहुँचे। नगरमें घुसते ही भक्तोंने हरि-ध्वनिकी गूँजसे आकाशमण्डलको गुँजा दिया। दिशा-विदिशाओंमें भगवान्के सुमधुर नामोंकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ने लगी। भक्तोंके हृदयसे आनन्द-धारा निकल-निकलकर अपने वेगसे लोगोंको

प्लावित करने लगी। सहस्रों नर-नारियोंके झुण्ड-के-झुण्ड प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगे और सभी भूत-बाधाकी छूत लगनेके समान एक-दूसरेका हाथ पकड़-पकड़कर नृत्य करने लगे। रामकेलि-ग्राम गौड़देशकी राजधानीके समीप ही था। उसे गौड़देशके दो मन्त्री भाइयोंने अपने रहनेके लिये बसाया था। बादशाहने भी भक्तोंकी गगन-भेदी तुमुल ध्वनि सुनी। सुनते ही वह अपने महलकी छतपर चढ़कर स्वयं उस ओर देखने लगा।

पापीको सदा अपने पापका भय बना रहता है, उसके हृदयमें शान्ति नहीं रहती। गौड़देशका तत्कालीन बादशाह हुसेनशाह हिन्दू राजा सुबुद्धिरायको छल-बलसे राज्यच्युत करके स्वयं ही राजा बन गया था। इसलिये वह हिन्दुओंसे बहुत शंकित रहता था। भक्तोंकी गगनभेदी हरि-ध्वनिको सुनकर उसके कान खड़े हो गये, वह सोचने लगा—'किसी-ने गौड़देशपर अकस्मात् चढ़ाई तो नहीं कर दी।' इसीलिये उसने जल्दीसे अपने केशवसिंह नामक हिन्दू मन्त्रीको बुलाकर उसका कारण पूछा। केशवसिंहने प्रभुकी प्रशंसा पहलेसे ही सुन रखी थी। वह स्वयं हुसेनशाहसे सन्तुष्ट नहीं था। किन्तु मन्त्री होनेके कारण काम करता ही था। उसने कहा—'सरकार! भयकी कोई बात नहीं। पुरीके दस-बीस वैष्णव साधु हैं, तीर्थ-यात्रा करने वृन्दावन जा रहे हैं, कल चले ही जायँगे वे सभी निःशस्त्र हैं और उन्हें राजनीतिसे कोई प्रयोजन नहीं। वे सब-के-सब घर-बार-त्यागी वैरागी हैं।' बादशाह उस समय तो हाँ-हूँ करके घर चला गया, किन्तु हिन्दू मन्त्रीकी बातोंसे उसे विशेष सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये उसने अपने 'दबिर खास' और 'शाकिर मल्लिक' नामक दोनों विश्वासी मन्त्रियोंको बुलाकर फिर इस सम्बन्धमें पूछ-ताछ की। इधर बादशाहसे पृथक् होते ही केशवसिंह मन्त्रीने चुपकेसे एक विश्वासी ब्राह्मण सेवकके द्वारा प्रभुके पास यह समाचार भेज दिया कि आपको यहाँ-से शीघ्र ही चले जाना चाहिये। मुसलमान बादशाहकी बुद्धिका विश्वास नहीं, न जाने कब क्या सोचने लगे।

दबिर खास और शाकिर मल्लिक वैसे तो जन्मके हिन्दू थे, किन्तु बादशाहके विशेष कृपापात्र होनेसे वे अपने हिन्दूपनेको भूल-से गये थे। बादशाह भी इनपर हिन्दू कर्मचारियोंकी भाँति अविश्वास नहीं करते थे। बादशाहके पूछनेपर दबिर खासने प्रभुकी प्रशंसा करते हुए कहा—'ये नवद्वीपके गौराङ्ग महाप्रभु हैं, इन्होंने अब संन्यास ले लिया है। इन्हें राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं। ये तो धर्म-संस्थापनार्थ प्रकट हुए हैं। इन्हें आप साक्षात् नारायण ही समझें। इनके आशीर्वादसे आपका कल्याण हो जायगा। ये कृपा करनेमें किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं रखते।' बादशाहको इनकी बातोंसे सन्तोष हुआ और वह महाप्रभुकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। इस प्रकार बादशाहको समझा-बुझाकर ये लोग अपने घर आये। अपने स्थानपर आकर इन दोनों भाइयोंको शंका हुई कि न जाने बादशाह फिर कुछ सोचने लगे, इसलिये चलकर प्रभुको समझा देना चाहिये, कि ऐसे लड़ाईके समयमें इस प्रकार भीड़-भाड़के साथ वृन्दावन जाना उचित नहीं है।

ये प्रभुके गुणोंपर पहले ही मोहित हो चुके थे। प्रभुके दर्शनोंकी इन्हें चिरकालसे उत्कट इच्छा थी। आज स्वाभाविक ही ऐसा सुन्दर सुयोग पाकर ये परम प्रसन्न हुए और प्रभुके दर्शनोंकी इच्छासे रात्रि होनेकी प्रतीक्षा करने लगे। पाठक जानते ही होंगे कि अत्यन्त ही एकान्त-प्रेमीसे रात्रिके समय एकान्तमें ही बातें की जाती हैं। ये दोनों भाई प्रभुके अत्यन्त ही एकान्त-प्रेमी, भक्त, सेवक, शिष्य तथा सुहृद् थे। ये ही दोनों भाई वैष्णव-समाजमें 'रूप' और 'सनातन'के नामसे परम प्रसिद्ध हैं, इसलिये प्रभुके दर्शनोंके पूर्व इनका संक्षिप्त परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है, इसलिये अगले अध्यायमें पाठक इन दोनों परमभागवत वैष्णव-भाइयोंका परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

श्रीरूप और सनातन

महाधीरौ भक्तिवीरौ प्रेमपीयूषभाजनौ।
भक्तिभावेन तौ वन्दे श्रीमद्रूपसनातनौ॥*

(प्र० द० व०)

जिस मनुष्यके हृदयमें पश्चात्ताप है, वह कैसी भी दशामें क्यों न पहुँच गया हो, वहींसे परम उन्नति कर सकता है, किन्तु जिसे अपने बुरे कर्मोंपर दुःख नहीं होता, जो अपनी गिरी दशाका अनुभव नहीं करता, जिसे समयके व्यर्थ बीत जानेका पश्चात्ताप नहीं वह चाहे कितना भी बड़ा विद्वान् हो, कैसा भी ज्ञानी हो, कितना भी विवेकी हो, वह उन्नतिके सुन्दर शिखरपर कभी भी नहीं पहुँच सकता। जहाँ पूर्वकृत कर्मोंपर सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप हुआ, जहाँ सर्वस्व त्यागकर प्यारेके चरणोंमें जानेकी इच्छा हुई वहीं समझ लो उसकी उन्नतिका श्रीगणेश हो गया। वह शीघ्र ही शैलशिखरपर बैठे हुए अपने प्यारेके पादपद्मोंको चूमनेमें समर्थ हो सकेगा। रूप और सनातन—इन दोनों भाइयोंका प्राथमिक जीवन विषयी पुरुषोंका-सा होनेपर भी अन्तमें ये पश्चात्तापके प्रभावसे प्रभुके पादपद्मोंतक पहुँच सके और उन्हींकी भक्तिके प्रभावसे वे जगन्मान्य महापुरुष हो गये।

---

* महा धैर्यवान्, भक्तिके विषयमें परम शूरवीर और प्रेमरूपी पीयूषके पात्र श्रीमान् रूप और सनातनको हम प्रणाम करते हैं।

रूप-सनातनके पूर्वज कर्नाटक देशके रहनेवाले थे। इनके प्रपितामह पद्मनाभ किसी कारणविशेषसे कर्नाटक देशको छोड़कर नवहाटी (नवहट्ट) में आकर रहने लगे। उनके पाँच लड़के और अठारह कन्याएँ हुईं। सबसे छोटे पुत्रका नाम मुकुन्ददेव था। मुकुन्ददेवके कुमारदेव नामक परमभागवत पुत्र हुए। वे प्रायः लेन-देन और वाणिज्य-व्यापारका काम करते थे, इसीके निमित्त इन्हें यशोहर जिलेके अन्तर्गत फतेहाबादमें जाना-आना पड़ता था। परस्परमें कुछ जातीय विरोध उत्पन्न होनेपर कुमारदेव नवहट्टको छोड़कर फतेहाबादमें ही आकर रहने लगे। यहाँ आकर इन्होंने मधाईपुरके हरिनारायण विशारदकी कन्या रेवतीदेवीके साथ अपना विवाह कर लिया। रेवतीदेवीके गर्भसे तीन पुत्र हुए, वे तीनों ही परमभागवत वैष्णव-समाजके सर्वोत्कृष्ट शिरोभूषणके समान हुए। माता-पिताने इनके नाम अमर, सन्तोष और अनूप रखे। पीछेसे ये ही रूप, सनातन और वल्लभ—इन नामोंसे प्रसिद्ध हुए।

पिताने अपने तीनों पुत्रोंको सुयोग्य पण्डित बनाना चाहा, इसलिये नवहाटीके प्रसिद्ध पण्डित श्रीसर्वानन्द सिद्धान्तवाचस्पतिसे उन्होंने इन लोगोंको संस्कृतकी शिक्षा दिलायी। उन दिनों फारसी राजभाषा थी। राजकीय कामोंमें फारसीका ही बोलबाला था। फारसी पढ़ा हुआ ही सभ्य और विद्वान् समझा जाता था, उसे ही राज्यमें बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिल सकती थीं। फारसी पढ़ा-लिखा साधारण काम नहीं कर सकता था! मालूम पड़ता है, जब लोग बहुत अधिक संख्यामें फारसी पढ़े-लिखे हो गये और उनकी बेक़दरी होने लगी तभी यह लोकोक्ति बनी होगी—'पढ़े फारसी बेचे तेल। यह देखो विधनाका खेल॥' अस्तु, रूप-सनातनके पूज्य पिताजीने अपने पुत्रोंको संस्कृतके साथ-ही-साथ फारसीका भी पण्डित बनाना चाहा। इसलिये सप्तग्रामके भूम्यधिकारी सैयद फ़कर-

उद्दीनसे इन लोगोंको अरबी-फारसीकी शिक्षा दिलायी। ये मेधावी और तीक्ष्णबुद्धिके तो बाल्यकालसे ही थे, इसलिये थोड़े ही दिनोंमें संस्कृत, अरबी और फारसीके अच्छे पण्डित हो गये। उन दिनों मालाधर वसु (गुणराजखाँ) गौड़के बादशाह हुसेनशाहके राजमन्त्री थे। वे गुणग्राही तथा कविहृदयके थे। उन्होंने 'श्रीकृष्णविजय' नामक एक बँगला काव्यकी भी रचना की थी जिसका 'नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ' यह पद महाप्रभुको बहुत ही पसन्द था। उनसे इन लोगोंका परिचय हो गया। वे इनकी कुशाग्रबुद्धि और प्रत्युत्पन्न मतिसे बहुत ही सन्तुष्ट हुए और इन्हें राजदरबारमें नौकर करा दिया। ये अपनी बुद्धिकी तीक्ष्णता और कार्यपटुताके कारण शीघ्र ही बादशाहके परम कृपापात्र बन गये और बादशाहने प्रसन्न होकर इन्हें अपना राजमन्त्री बनाया। पदवृद्धिके साथ इनकी वैभववृद्धि भी होने लगी, साथ ही हिन्दू-धर्मकी कट्टरता भी कम होने लगी। इन्हें मुसलमानोंसे कोई परहेज नहीं था। ब्राह्मण होनेपर भी इनका खान-पान तथा वेष-भूषा सब मुसलमान रईसोंका-सा ही था। यहाँतक कि बादशाहने इनके नाम भी मुसलमानोंके-से ही रख दिये। बादशाह सनातनको 'दबिर खास' और रूपको 'शाकिर मल्लिक' के नामसे पुकारता था। राज्यमें ये इन्हीं नामोंसे प्रसिद्ध थे। इनके पुराने नामोंको कोई जानता भी नहीं था। इन्होंने अपने रहनेके निमित्त गौड़के समीप ही रामकेलि नामसे एक नया नगर बसाया और उसीमें अपना सुन्दर-सा महल बनाकर खूब ठाट-बाटके साथ रहते थे। इनके आचरण चाहे कैसे भी हों, किन्तु ये संस्कृतके विद्वान् पण्डितोंका तथा साधु वैष्णवोंका सदा सम्मान करते रहते थे। रामकेलिसे थोड़ी दूरपर इन्होंने 'कन्हाई नाटशाला' नामसे एक मूर्ति-संग्रहालय बनवाया था। उसमें श्रीकृष्णकी लीला-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी बहुत-सी मूर्तियाँ थीं। उनमेंसे कुछ तो अबतक भी विद्यमान हैं।

निरन्तरके साधु-सङ्ग तथा शास्त्र-चिन्तनसे इन लोगोंको अपने अपार वैभवसे वैराग्य होने लगा। इनका मन किसीको आत्मसमर्पण करनेके लिये अत्यन्त ही व्याकुल होने लगा। अब इनकी प्रवृत्ति धीरे-धीरे धर्मकी ओर होने लगी। उसी समय इन लोगोंने महाप्रभुकी प्रशंसा सुनी। उस समय महाप्रभुका भगवन्नाम-संकीर्तन एक नयी-ही-नयी वस्तु थी। अबतक लोगोंकी ऐसी धारणा थी कि जो समाजके बन्धनोंको परित्याग कर देनेके कारण एक बार समाजसे पतित हो गया, वह सदाके ही लिये पतित बन गया। पीछेसे उसके उद्धारका कोई उपाय नहीं है। महाप्रभुने इस मान्यताका जोरोंसे खण्डन किया। वे इस बातपर जोर देने लगे—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गीता ९। ३०)

चाहे कितना भी बड़ा पापी क्यों न रहा हो, जो अनन्यभावसे भगवान्‌का भजन करता है वह परम साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि अब उसने उत्तम निश्चय कर लिया। भगवान्‌में जिसका मन लग गया है, वह फिर पापी रह ही कैसे सकता है? एक बार प्रपन्न होकर प्रभुकी शरणमें जानेसे ही सम्पूर्ण पाप जलकर भस्म हो जाते हैं। भगवन्नामके प्रभावसे घोर पापी-से-पापी भी प्रभुके पादपद्मोंतक पहुँच सकते हैं। प्रभुके ऐसे उदार और सर्वभूतहितकारी भावोंको सुनकर इन लोगोंको भी अपने पूर्व-जीवनपर पश्चात्ताप होने लगा और गौड़ेश्वरसे छिपकर इन्होंने एक पत्र प्रभुके लिये नवद्वीप पठाया। उसमें इन्होंने अपनी पतितावस्थाका वर्णन करके अपने उद्धारका उपाय जानना चाहा। प्रभुने इनके पत्रके उत्तरमें यह श्लोक लिखकर इनके पास भेज दिया—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु ।
तमेवास्वादयत्यन्तर्नवसङ्गरसायनम् ॥

अर्थात् 'पर-पुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री बाहरसे घरके कार्योंमें व्यस्त रहकर भी भीतर-ही-भीतर उस नूतन जार-सङ्गमरूपी रसायनका ही आस्वादन करती रहती है।' इसी प्रकार बाहरसे तो तुम राजकाजोंको भले ही करते रहो, किन्तु हृदयसे सदा उन्हीं हृदय-रमणके साथ क्रीड़ा-विहार करते रहो।

प्रभुके ऐसे अनुपम उपदेशको पाकर इन लोगोंकी प्रभु-दर्शनकी लालसा और भी अधिक बढ़ने लगी। जब इन्होंने सुना कि प्रभु तो संन्यास लेकर पुरी चले गये हैं, तब तो ये और भी अधिक व्याकुल हुए। हुसेनशाह इन्हें बहुत अधिक मानता था और इनके ऊपर पूर्ण विश्वास रखता था। उन दिनों कई राज्योंसे युद्ध छिड़ा हुआ था, ऐसी दशामें ये पुरी जा ही नहीं सकते। जब वृन्दावन जानेकी इच्छासे प्रभु स्वयं ही रामकेलिमें पधारे तब तो इनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। ये मन-ही-मन प्रभुकी भक्तवत्सलताकी प्रशंसा करने लगे। सब लोगोंके समक्ष ये लोग प्रभुसे स्पष्ट तो मिल ही नहीं सकते थे इसलिये एकान्तमें प्रभुके दर्शनोंकी बात सोचने लगे।

जब सभी लोग सो गये और सम्पूर्ण नगरमें सन्नाटा छा गया तब अर्द्धरात्रिके समय ये अपने प्यारेके सङ्ग-सुखकी इच्छासे साधारण वेशमें चले। उस समय अत्यन्त ही दीन होकर और दाँतोंमें तृण दबाकर ये लोग प्रभुके निवासस्थानके समीप पहुँचे। उस समय सभी भक्त मार्गके परिश्रमसे थककर घोर निद्रामें पड़े सो रहे थे। इन्होंने सबसे पहले नित्यानन्दजी तथा हरिदासजीको जगाया और अपना परिचय दिया। इन दोनों भाइयोंका परिचय पाकर नित्यानन्दजी परम प्रसन्न हुए और उन्होंने

धीरेसे जाकर प्रभुको जगाया और इन दोनों भाइयोंके आनेका संवाद दिया। प्रभुने उसी समय दोनोंको अपने समीप बुलानेकी आज्ञा दी। प्रभुकी आज्ञा पाकर पुलकित शरीरसे अत्यन्त दीनताके साथ वे लोग प्रभुके समीप पहुँचे और जाते ही व्याकुलताके साथ प्रभुके पैरोंमें गिरकर जोरोंसे रुदन करने लगे। प्रभु अपने कोमल करोंसे बार-बार इन्हें उठाते थे, किन्तु ये प्रेमके कारण प्रभुके पादपद्मोंको छोड़ना ही नहीं चाहते थे। अत्यन्त ही करुणाके स्वरमें ये प्रभुसे अपने उद्धारकी प्रार्थना करने लगे। प्रभुने इन्हें आश्वासन देते हुए कहा—'तुमलोगोंके रुदनसे मेरा हृदय फटता है, तुम दोनों ही परम भागवत हो और मेरे जन्म-जन्मान्तरोंके सुहृद् हो। मैं तुम्हारे दर्शनोंके लिये व्याकुल था। रामकेलिमें आनेका मेरा और दूसरा कोई अभिप्राय नहीं था, यहाँ तो मैं केवल तुम दोनों भाइयोंके दर्शनोंके ही लिये आया हूँ। आजसे तुम्हारा नूतन जन्म हुआ। अब इन मुसलमानी नामोंको त्याग दो, आजसे तुम्हारे नाम रूप और सनातन हुए।'

प्रभुके इन प्रेमपूर्ण वचनोंसे दोनों भाइयोंको परम सन्तोष हुआ और ये भाँति-भाँतिसे प्रभुकी स्तुति करने लगे। अन्तमें सनातनने प्रभुसे कहा—'प्रभो! इस युद्धकालमें और इतनी भीड़भाड़के साथ वृन्दावन-यात्रा करना ठीक नहीं है। वृन्दावनको तो अकेले ही जाना चाहिये। रास्तेमें इन सबका प्रबन्ध करना, देख-रेख रखना और सबकी चिन्ताका भार उठाना ठीक नहीं है। इस समय आप लौट जायँ और फिर अकेले कभी वृन्दावनकी यात्रा करें।' प्रभुने सनातनके सत्परामर्शको स्वीकार कर लिया और प्रातःकाल उन दोनों भाइयोंको प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करके विदा किया और आप सभी भक्तोंके साथ कन्हाईकी नाटशाला होते हुए फिर शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर आकर ठहर गये।

रघुनाथदासजीको प्रभुके दर्शन

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥*

(सु० र० भां० ८१ । १२)

कितनी सुन्दर कल्पना है ! उन महापुरुषोंका हृदय कितना स्वच्छ और पवित्र होगा, जिनके हृदयमेंसे काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों राक्षस निकल गये हों, मन-मन्दिरको अपवित्र बनानेवाले इन दैत्योंके निकलते ही काँचका बना हुआ यह देवालय एकदम स्वच्छ बन जाता है, विषय-विकारोंकी धूलिसे मलिन हुआ यह मन्दिर इन महापापी पेटुओंके चले जानेपर प्रेमरूपी अमृतसे अपने-आप ही धुलकर चमचमाने लगता है, तब उसमें प्राणप्यारे आकर विराजमान हो जाते हैं,

---

* स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाण जिसके हृदयको नहीं बेधते अर्थात् जो स्त्रियोंके हाव-भाव-कटाक्षोंसे घायल नहीं होता, जिसके चित्तको क्रोधरूपी अग्नि सन्ताप नहीं पहुँचा सकती और जिसे प्रचुर विषय लोभरूपी पाशोंसे अपनी ओर नहीं खींच सकते यानी जिसकी दृष्टिमें संसारी सभी भोग तृणके समान हैं, वह धीर महापुरुष इस सम्पूर्ण त्रिलोकीको बात-की-बातमें जीत सकता है ।

मन्दिरमें उनकी प्राणप्रतिष्ठा होते ही यह देहरूपी बाहरी बरामदा भी उनके दिव्य प्रकाशसे चमकने लगता है। अहा ! जिस महाभागके हृदयमें प्यारेकी त्रैलोक्यपावनी मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा हो चुकी है, उसके चरण-स्पर्शसे ही विकार एकदम भाग जाते हैं, अहा ! उन पतितपावन महानुभावोंका जीवन धन्य है।

संसारमें सुन्दर दीखनेवाले चमक-दमक-युक्त और स्वच्छ-से प्रतीत होनेवाले सभी पदार्थ कामोद्दीपन करनेवाले हैं। वे पुरुषोंको हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। उनमेंसे मादक किरणें निकलकर मनुष्योंके मनको बरबस मोहमें फँसा लेती हैं। कोई धीर पुरुष ही उनके आकर्षणसे बच सकते हैं, वे मनुष्य नहीं साक्षात् ईश्वर हैं, नररूपमें नारायण हैं, शरीरधारी भगवान् हैं, उनकी चरण-धूलि परम भाग्यवान् पुरुषोंको ही मिल सकती है। महात्मा रघुनाथदासजी उन्हीं धीर पुरुषोंमेंसे एक हैं।

महात्मा रघुनाथदासजीके पिता दो भाई थे; हिरण्य मजूमदार और गोवर्धन मजूमदार। ये दोनों ही भाई बड़े ही समझदार, कार्यकुशल और लोकव्यवहारमें परम प्रवीण थे, हम पहले ही बता चुके हैं कि उन दिनों राजाकी ओरसे गाँवोंका ठेका दिया जाता था और ठेका लेनेवाले भूम्यधिपति या जमींदार प्रायः कायस्थ या मुसलमान ही होते थे, ये दोनों भाई भी कुलीन कायस्थ ही थे और बादशाहकी ओरसे इन्हें 'मजूमदार' की उपाधि मिली थी। ये वर्तमान तीसबीघा नामक नगरके समीप सतग्राम नामके ग्राममें रहते थे। उन दिनों सतग्राम गंगातटपर होनेके कारण वाणिज्य-व्यापारकी एक अच्छी मण्डी समझा जाता था, कारण कि उन दिनों व्यापार प्रायः नौकाओंद्वारा ही होता था। इनके इलाकेकी उस समयकी आमदनी लगभग बीस लाख रुपये सालानाकी

थी, उसमेंसे ये बारह लाख तो बादशाहको दे देते थे और शेष आठ लाख अपने पास रख लेते थे। उन दिनों आठ लाखकी आमदनी बहुत अधिक समझी जाती थी, आजकी एक करोड़की आमदनीसे भी बढ़कर उन दिनोंके आठ लाख थे। इन दोनों भाइयोंकी बादशाहके दरबारमें खूब प्रतिष्ठा थी और इनकी बातका सब कोई पूर्ण विश्वास करते थे। इतने धनिक होनेपर भी ये लोग पूरे आस्तिक थे। इनके दरबारमें विद्वान् पण्डितोंका खूब सम्मान किया जाता और बहुत-से ब्राह्मण-पण्डित इनके आश्रयसे अपनी आजीविका चलाते थे। महाप्रभुके पिता पण्डित जगन्नाथ मिश्रकी भी ये लोग कुछ-न-कुछ सेवा करते ही रहते थे तथा नवद्वीपके बहुत-से पण्डित इनके यहाँ आते-जाते रहते थे। श्रीअद्वैताचार्यके चरणोंमें इन दोनों भाइयोंकी पहलेसे ही भक्ति थी, कारण कि इनके कुलपुरोहित श्रीबलराम आचार्यके साथ अद्वैताचार्यकी बहुत अधिक प्रगाढ़ता थी इसीलिये महात्मा हरिदास कभी-कभी सप्तग्राममें जाकर बलराम आचार्यके घर ठहर जाते। आचार्य इनकी नाम-निष्ठापर मुग्ध थे, वे इन्हें पुत्रकी भाँति स्नेह करते थे, इसी कारण ये दोनों जमींदार भाई भी हरिदासजीके प्रति श्रद्धाके भाव रखने लगे।

हिरण्यदास निस्सन्तान थे, केवल गोवर्धनदासके ही एक सन्तान थी और उसी सन्तानसे वे जगद्वन्द्य और अमर हो गये। महात्मा रघुनाथदासके पिता होनेका लोकविख्यात सौभाग्य इन्हीं श्रीगोवर्धनदासजीको प्राप्त हुआ था। बालक रघुनाथदास पहलेसे ही बड़े तेजस्वी और होनहार प्रतीत होते थे। अपने कुलमें अकेले ही होनेके कारण चचा तथा पिताका इनके ऊपर अत्यधिक स्नेह था। बालकपनसे ही इनके स्वभावमें गम्भीरता थी, ये बहुत ही कम बातें करते, कभी किसीसे अपशब्द

नहीं कहते, बड़ोंके सामने सदा नम्र रहते। राजपुत्र होनेके कारण वैसे ही बड़े सुन्दर और कोमलाङ्ग थे, फिर इतनी बड़ी नम्रताने तो सोनेमें सुगन्धका काम दिया। जो भी इनकी मोहिनी मूर्तिको देखता वही मुग्ध हो जाता। पिताने अपने पुत्रको प्रसिद्ध पण्डित बनानेकी इच्छासे अपने कुलगुरु बलराम आचार्यके समीप संस्कृत पढ़ने भेजा। विनयी रघुनाथ अपनी पोथियोंको स्वयं लेकर आचार्यके घर पढ़ने जाने लगे। उन दिनों महात्मा हरिदासजी आचार्यके घरपर ही रहकर अहर्निश जोर-जोरसे भगवन्नामोंका उच्चारण किया करते थे। सरल-स्वभाववाले कोमल प्रकृतिके रघुनाथदासपर हरिदासजीकी धर्मनिष्ठा-का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। वे घण्टों एकटक-भावसे हरिदासजीके मुखमण्डलकी ओर निहारते रहते और उनके साथ कभी-कभी बेसुध होकर कीर्तन भी करने लगते। हरिदासजीके हृदयमें भी बालक रघुनाथदासजी-की सरलता और भावुकताने अपना घर बना लिया, वे मन-ही-मन उस जमींदारके कुमारको प्यार करने लगे।

धीरे-धीरे रघुनाथदास बड़े हुए। उनके मनको इतना अतुल वैभव अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका। विषय-भोग उन्हें काटनेके लिये दौड़ने लगे और उनका मन-मधुप अप्राकृतिक सजे हुए परम रमणीक उद्यानको छोड़कर खुले हुए वनोंमें स्वच्छन्दभावसे विचरण करनेके निमित्त व्याकुल होने लगा। जिन सोने-चाँदीके ठीकरोंको सर्वस्व समझकर लोग बुरे-से-बुरे कामोंको करनेमें भी आगा-पीछा नहीं करते और उनकी प्राप्तिके निमित्त प्राणोंकी बाजी लगानेमें भी कभी संकोच नहीं करते, उन्हीं स्वर्णके सिक्कोंको रघुनाथदासजी अपने पथके कण्टक समझते थे। उनका मन राज-काजमें बिल्कुल नहीं लगता था, वे तो परमार्थ-पथको परिष्कृत करनेवाले सत्संगके लिये तड़फते रहते

थे। परिवारवालोंको इनका यह व्यवहार अरुचिकर प्रतीत होता था, वे इन्हें भाँति-भाँतिके संसारी प्रलोभन देते थे, अनेक-अनेक प्रकारकी भोग्य-सामग्रियोंद्वारा इनके मनको उनमें फँसाना चाहते थे, किन्तु उनके सभी प्रयत्न निष्फल हुए। जो मधुरातिमधुर मिश्रीका आस्वादन कर रहा है, उसे गुड़ देकर अपने वशमें करना मूर्खता ही है। सभीको इनकी ऐसी दशापर चिन्ता हुई। उस समय महाप्रभु संन्यास लेकर शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर ठहरे हुए थे, अपने पिताकी आज्ञा लेकर ये उस समय प्रभुके दर्शन करनेको गये थे और चार-पाँच दिन प्रभुके चरणोंके समीप रह भी गये थे। महाप्रभु तो पूरे पारखी थे, वे इनके रंग-ढंगसे ही ताड़ गये कि यह जन्मसिद्ध पुरुष है। संसारमें यह चिरकालतक संसारी बनकर नहीं रह सकता। फिर भी प्रभुने इन्हें समझा-बुझाकर अनासक्तभावसे गृहस्थीमें रहकर संसारी काम करते रहनेका उपदेश करके घर लौटा दिया।

पिताने जब देखा कि पुत्रका चित्त संसारी कामोंमें नहीं लगता तब उन्होंने एक बहुत ही सुन्दरी कन्यासे इनका विवाह कर दिया। गोवर्धनदास धनी थे, राजा और प्रजा दोनोंके प्रीति-भाजन थे, सभी लोग उन्हें प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे देखते थे। राजाओंके समान उनका वैभव था। इसलिये उन्हें अपने पुत्रके लिये सुन्दर-से-सुन्दर पत्नी खोजनेमें कठिनता नहीं हुई। उनका खयाल था कि रघुनाथकी युवा अवस्था है, वह परम सुन्दरी पत्नी पाकर अपनी सारी उदासीनताको भूल जायगा और उसके प्रेमपाशमें बँधकर संसारी हो जायगा, किन्तु विषय-भोगोंको ही सर्वस्व समझनेवाले पिताको क्या पता था कि इसकी शादी तो किसी दूसरेके साथ पहले ही हो चुकी है, उसके सौन्दर्यके सामने इन संसारी सुन्दरियोंका सौन्दर्य तुच्छातितुच्छ है। पिताका यह भी प्रयत्न विफल

ही हुआ। परम सुन्दरी पत्नी रघुनाथदासको अपने प्रेमपाशमें नहीं फँसा सकी। रघुनाथदास उसी प्रकार संसारसे उदासीन ही बने रहे।

अब जब रघुनाथदासजीने सुना कि प्रभु वृन्दावन नहीं जा सके हैं, वे रामकेलिसे लौटकर अद्वैताचार्यके घर ठहरे हुए हैं, तब तो इन्होंने बड़ी ही नम्रताके साथ अपने पूज्य पिताके चरणोंमें प्रार्थना की कि मुझे महाप्रभुके दर्शनोंकी आज्ञा मिलनी चाहिये। महाप्रभुके दर्शन करके मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा।

इस बातको सुनते ही गोवर्धनदास किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, किन्तु वे अपने बराबरके युवक पुत्रको जबरदस्ती रोकना भी नहीं चाहते थे, इसलिये आँखोंमें आँसू भरकर उन्होंने कहा—'बेटा! हमारे कुलका तू ही एकमात्र दीपक है। हम सभी लोगोंको एकमात्र तेरा ही सहारा है। तू ही हमारे जीवनका आधार है। तुझे देखे बिना हम जीवित नहीं रह सकते। मैं महाप्रभुके दर्शनोंसे तुझे रोकना नहीं चाहता, किन्तु इस बूढ़ेकी यही प्रार्थना है कि तू मेरे इन सफेद बालोंकी ओर देखकर जल्दीसे लौट आना, कहीं घर छोड़कर बाहर जानेका निश्चय मत करना।'

पिताके मोहमें पगे हुए इन वचनोंको सुनकर आँखोंमें आँसू भरे हुए रघुनाथदासजीने कहा—'पिताजी! मैं क्या करूँ, न जाने क्यों मेरा संसारी कामोंमें एकदम चित्त ही नहीं लगता। मैं बहुत चाहता हूँ कि मेरे कारण आपको किसी प्रकारका कष्ट न हो, किन्तु मैं अपने वशमें नहीं हूँ। कोई बलात्कार मेरे मनको अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ, मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा।'

पुत्रके ऐसे आश्वासन देनेपर गोवर्धनदासने अपने पुत्रके लिये एक सुन्दर-सी पालकी मँगायी। दस-बीस विश्वासी नौकर उनके साथ दिये और बड़े ही ठाट-बाटके साथ राजकुमारकी भाँति बहुत-सी भेंटकी

सामग्रीके साथ उन्हें प्रभुके दर्शनोंके लिये भेजा। जहाँसे शान्तिपुर दीखने लगा, वहींसे ये पालकीपरसे उतर गये और नंगे ही पाँवों धूपमें चलकर प्रभुके समीप पहुँचे। दूरसे ही भूमिपर लोटकर इन्होंने प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभुने जल्दीसे उठकर इन्हें छातीसे चिपटा लिया और धीरे-धीरे इनके काले घुँघराले बालोंको अपनी उँगलियोंसे सुलझाने लगे। प्रभुने इनका माथा सूँघा और अपनी गोदीमें बिठाकर बालकोंकी भाँति पूछने लगे—'तुम इतनी धूपमें अकेले कैसे आये, क्या पैदल आये हो? साथमें नौकर नहीं लाये? तुम्हारा मुख एकदम सूखा है, इसका क्या कारण है?' रघुनाथदासजीने इन प्रश्नोंमेंसे किसीका भी कुछ उत्तर नहीं दिया, वे अपने अश्रुजलसे प्रभुके काषाय-वस्त्रोंको भिगो रहे थे। इतनेमें ही रघुनाथदासजीके साथी सेवकोंने प्रभुके चरणोंमें आकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भेंटकी सभी सामग्री प्रभुके सम्मुख रख दी। महाप्रभु धीरे-धीरे रघुनाथदासजीके स्वर्णके समान कान्तियुक्त शरीरपर अपना प्रेममय, सुखमय और ममत्वमय कोमल कर फिरा रहे थे। प्रभुकी ऐसी असीम कृपा पाकर रोते-रोते रघुनाथदास कहने लगे—'प्रभो! पितृ-गृह मेरे लिये सचमुच कारावास बना हुआ है। मेरे ऊपर सदा पहरा रहता है, बिना पूछे मैं कहीं आ-जा नहीं सकता, स्वतन्त्रतासे घूम-फिर नहीं सकता। हे जगके त्राता! मेरे इस गृह-बन्धनको छिन्न-भिन्न कर दीजिये। मुझे यातनासे छुड़ाकर अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये। आपके चरणोंका चिन्तन करता हुआ ही, अपने जीवनको व्यतीत करूँ, ऐसा आशीर्वाद दीजिये।'

प्रभुने प्रेमपूर्वक कहा—'रघुनाथ! तुम पागल तो नहीं हो गये हो, अरे! घर भी कहीं बन्धन हो सकता है? उसमेंसे अपनापन निकाल दो, बस, फिर रह ही क्या जाता है। जबतक ममत्व है, तभीतक दुःख है।

जहाँ ममत्व दूर हुआ कि सब अपना-ही-अपना है। आसक्ति छोड़कर व्यवहार करो। धन, स्त्री तथा कुटुम्बियोंमें अपनेपनके भावको भुलाकर व्यवहार करो।'

रघुनाथदासजीने रोते-रोते कहा—'प्रभो! मुझे बच्चोंकी भाँति बहकाइये नहीं। यह मैं खूब जानता हूँ कि आप सबके मनके भावोंको समझकर उसे जैसा अधिकारी समझते हैं, वैसा ही उपदेश करते हैं। बाल-बच्चोंमें अनासक्त रहकर और उन्हींके साथ रहते हुए भजन करना उसी प्रकार है जिस प्रकार नदीमें घुसनेपर भी शरीर न भीगे। प्रभो! ऐसा व्यवहार तो ईश्वरके सिवा साधारण मनुष्य कभी नहीं कर सकता। आप जो उपदेश कर रहे हैं, वह उन लोगोंके लिये है, जिनकी संसारी विषयोंमें थोड़ी-बहुत वासना बनी हुई है। मैं आपके चरणोंको स्पर्श करके कहता हूँ, कि मेरी संसारी विषयोंमें बिल्कुल भी आसक्ति नहीं। मुझे घरका अपार वैभव काटनेके लिये दौड़ता है, अब मैं अधिक काल घरके बन्धनमें नहीं रह सकता।'

प्रभुने कहा—'तुमने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है, किन्तु यह मर्कट-वैराग्य ठीक नहीं। कभी-कभी मनुष्योंको क्षणिक वैराग्य होता है, जो विपत्ति पड़नेपर एकदम नष्ट हो जाता है, इसलिये कुछ दिन घरमें और रहो, तब देखा जायगा।'

अत्यन्त ही करुण-स्वरमें रघुनाथदासजीने कहा—'प्रभो! आपके चरणोंकी शरणमें आनेपर फिर वैराग्य नष्ट ही कैसे हो सकता है? क्या अमृतका पान करनेपर भी पुरुषको जरा-मृत्युका भय हो सकता है? आप अपने चरणोंमें मुझे स्थान दीजिये।'

प्रभुने धीरेसे प्रेमके स्वरमें कहा—'अच्छी बात है देखा जायगा, अब तो तुम घर जाओ, मेरा अभी वृन्दावन जानेका विचार है। वहाँसे

लौटकर पुरी जाऊँगा और वहाँसे बहुत ही शीघ्र वृन्दावन जाना चाहता हूँ। वृन्दावनसे जब लौट आऊँ, तब तुम आकर मुझे पुरीमें मिलना।' प्रभुके ऐसे आश्वासनसे रघुनाथदासजीको कुछ सन्तोष हुआ। वे सात दिनोंतक शान्तिपुरमें ही प्रभुके चरणोंमें रहे। वे इन दिनों पलभरके लिये भी प्रभुसे पृथक् नहीं होते थे। प्रभुके भिक्षा कर लेनेपर उनका उच्छिष्ट-प्रसाद पाते और प्रभुके चरणोंके नीचे ही शयन करते। इस प्रकार सात दिनोंतक रहकर प्रभुकी आज्ञा लेकर वे फिर सप्तग्रामके लिये लौट गये।

श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीकी पुण्य-तिथि समीप ही थी, इसलिये अद्वैताचार्यके प्रार्थना करनेपर प्रभु दस दिनोंतक शान्तिपुरमें ठहरे रहे। नवद्वीप आदि स्थानोंसे बहुत-से भक्त प्रभुके दर्शनोंके लिये आया करते थे। शचीमाता भी अपने पुत्रको फिरसे देखनेके लिये आ गयीं और सात दिनोंतक अपने हाथोंसे प्रभुको भिक्षा कराती रहीं। इसी बीच एक दिन महाप्रभु गङ्गा पार करके पण्डित गौरीदासजीसे मिलने गये। वे गौराङ्गके चरणोंमें बड़ी श्रद्धा रखते थे। उन्होंने प्रभुसे वरदान माँगा कि आप निताई और निमाई दोनों भाई मेरे ही यहाँ रहें। तब प्रभुने उनके यहाँ प्रतिमामें रहना स्वीकार किया। उन्होंने निमाई और निताईकी प्रतिमा स्थापित की, जिनमें उनके विश्वासके अनुसार अब भी दोनों भाई विराजमान हैं। ये ही महाप्रभु गौराङ्गदेव और नित्यानन्दजीकी आदिमूर्ति बतायी जाती हैं। ये दोनों मूर्ति बड़ी ही दिव्य हैं।

कालनासे लौटकर प्रभु फिर शान्तिपुरमें आ गये, वहाँसे आपने सभी भक्तोंको विदा कर दिया और आप अपने अन्तरङ्ग दो-चार भक्तोंको साथ लेकर श्रीजगन्नाथपुरीके लिये चल पड़े।

पुरीमें प्रत्यागमन और वृन्दावनकी पुनः यात्रा

गच्छन् वृन्दावनं गौरो व्याघ्रेभैणखगान् वने ।
प्रेमोन्मत्तान् सहोन्नृत्यान् विदधे कृष्णजल्पिनः ॥*
(चैतन्यचरिता० मध्य ली० १७ । १)

शान्तिपुरसे विदा होकर महाप्रभु श्रीहट्ट, पानीहाटी आदि स्थानोंमें होते हुए फिर लौटकर पुरीमें आ गये । सबसे पहले वे श्रीजगन्नाथजीके

---

* वृन्दावन जाते-जाते रास्तेमें अरण्यके सिंह, हस्ती, मृग और पक्षियों-तकको भी कृष्ण-प्रेममें उन्मत्त करते हुए और उनके मुखसे श्रीहरिके सुमधुर नामोंका उच्चारण कराते हुए श्रीगौराङ्ग उन्हें अपने साथ ही नृत्य कराते थे ।

दर्शनोंको गये। भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम करके वे गद्गद कण्ठसे उनकी स्तुति करने लगे। पुजारीने प्रभुको माला-प्रसाद लाकर दिया। भगवान्‌का प्रसाद पाकर मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए प्रभु अपने वासस्थानपर पहुँच गये। प्रभुके पुनः पुरीमें पधारनेका समाचार बात-की-बातमें सम्पूर्ण नगरमें फैल गया। जो भी सुनता वही प्रभुके दर्शनोंको दौड़ा आता। सार्वभौम भट्टाचार्य, रामानन्दराय, काशी मिश्र माइती, गदाधर आदि सभी भक्त प्रभुके स्थानपर आ गये। सभीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'प्रभो! हमारा सौभाग्य, जो इतनी जल्दी आपके दर्शन हो गये, यह समय सचमुच तीर्थयात्राका नहीं है।'

प्रभुने कहा—'और कुछ नहीं है, मुझे गदाधरजीका शाप लग गया। इन्हें साथ नहीं ले गया और जबरदस्ती यहाँ छोड़ गया, इसीलिये मैं वृन्दावन नहीं जा सका।'

हाथ जोड़े हुए दीनभावसे गदाधर गोस्वामीने कहा—'प्रभो! आपके लिये वृन्दावन क्या, आप जहाँ भी बैठें वहीं वृन्दावन है, किन्तु लोक-शिक्षणके लिये आप तीर्थयात्रा आदि करते हैं, यह आपकी लीलामात्र है।'

प्रभुने कहा—'सनातनने मुझे सर्वोत्तम सम्मति दी है, वे दोनों भाई बड़े ही भागवत वैष्णव हैं, उनके हृदयमें प्रभु-प्रेम कूट-कूटकर भरा हुआ है। इतना भारी राज-काज करते हुए भी वे सदा उससे उदासीन ही बने रहते हैं और भगवान्‌का सदा चिन्तन करते रहते हैं। उन्होंने ही मुझे सम्मति दी है कि वृन्दावन अकेले ही जाना चाहिये। इसलिये अबके मैं अकेला ही वृन्दावन जाऊँगा।'

राय रामानन्दजीने निवेदन किया—'प्रभो! वर्षाकाल सन्निकट है, रथ-यात्राका उत्सव भी आ रहा है, अतः रथ-यात्रा करके

और चातुर्मास विताकर फिर जैसा भी विचार हो कीजियेगा।' राय महाशयकी इस बातका सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप गोस्वामी, गदाधर आदि सभी भक्तोंने अनुमोदन किया। प्रभुने सबकी सम्मतिके सम्मुख सिर झुका दिया और ये वर्षाकाल विताकर ही वृन्दावन जानेके लिये राजी हो गये। शान्तिपुरसे चलते समय प्रभु भक्तोंसे कह आये थे कि 'अबके हम वृन्दावन चले जायँगे अतः रथ-यात्रामें अब पुरी आनेकी आवश्यकता नहीं है।' प्रभुकी आज्ञा मानकर इस साल गौड़ीय भक्त दल बनाकर पहलेकी भाँति रथ-यात्राके लिये नहीं आये थे। महाप्रभुने सदाकी भाँति रथयात्राका उत्सव मनाया और पुरीमें ही वर्षाके चार मास व्यतीत किये।

वर्षा बीत जानेपर शरद्के प्रारम्भमें प्रभु भक्तोंसे अनुमति लेकर वृन्दावन जानेके लिये उद्यत हुए। प्रभु एकाकी जा रहे हैं और साथमें किसी दूसरेको ले ही नहीं जाना चाहते तब गद्गद कण्ठसे स्वरूप गोस्वामी-ने कहा—'प्रभो! मेरी एक प्रार्थना है, उसे आप अवश्य ही स्वीकार कर लीजिये। आप एकाकी ही वृन्दावन जा रहे हैं, यह हमारे लिये असह्य है, अतः किसी औरको साथ ले जाना नहीं चाहते तो इस बलभद्र भट्टाचार्यको तो आप अवश्य ही साथ ले जायँ। यह कुलीन ब्राह्मण है, सेवा करना भलीभाँति जानता है, प्रभुके पादपद्मोंमें इसका दृढ़ अनुराग है; इसकी स्वयं भी व्रजमण्डलके सभी तीर्थोंकी यात्रा करने-की इच्छा है, यह आपकी भिक्षा आदि बना दिया करेगा, इससे आपको भी असुविधा न रहेगी और हमलोगोंको भी सन्तोष रहा करेगा।' स्वरूपकी बात सुनकर और सभी भक्तोंकी ऐसी ही इच्छा समझकर भक्तवत्सल प्रभु बोले—'आपलोगोंकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करने-की मेरी शक्ति नहीं है, आपलोगोंकी जिसमें प्रसन्नता होगी और आप-

लोग जैसा कहेंगे वैसा ही मुझे करना पड़ेगा। अच्छा, आपलोगोंके अनुरोधसे मैं बलभद्रको साथ ले जाऊँगा।' प्रभुके इस निश्चयसे सभीको प्रसन्नता हुई और सभी प्रभुके शरीरकी ओरसे कुछ-कुछ निश्चिन्त-से हो गये। किन्तु किसीको इस बातका पता नहीं था कि प्रभु कब वृन्दावन जायँगे।

शामके समय प्रभु एकाकी भगवान्के दर्शन करने गये और उनसे रात्रिमें ही आज्ञा लेकर दूसरे दिन अँधेरेमें ही बलभद्र भट्टाचार्यको साथ लेकर वृन्दावनकी ओर चल दिये। प्रातःकाल जब भक्तोंने देखा कि प्रभु नहीं हैं, तब सभी समझ गये कि प्रभु वृन्दावनको चले गये।

इधर महाप्रभु राजपथको छोड़कर और कटकसे बचकर झाड़ीखण्डमें होकर सीधे उपपथके द्वारा वृन्दावनकी ओर चले। रास्तेमें बहुत दूरतक गाँव नहीं पड़ते थे, उन दिनों बलभद्र वन्य शाक-मूल-फलोंको ही बनाकर प्रभुको भिक्षा करा देते। कभी-कभी बलभद्र गाँवोंमेंसे तीन-तीन चार-चार दिनके लिये इकट्ठा सामान माँग लाते, और जहाँ सामान न मिलता, वहाँ उसीमेंसे प्रभुको बनाकर भिक्षा करा देते थे। वे बड़ी सावधानीसे प्रभुकी सेवा करते थे। महाप्रभु इनकी सेवासे सदा सन्तुष्ट रहते और बार-बार इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते। प्रभुकी माया कौन जाने, कहाँ तो एक हरीतकीके टुकड़ेको दूसरे दिनके लिये रखनेसे असन्तुष्ट हो गये। और यहाँ बलभद्रके अन्न-संग्रह करनेपर भी उससे उलटे प्रसन्न ही हुए। तभी तो कहा है—

लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमीश्वरः।

इन महापुरुषोंके चित्त कुछ संसारी लोगोंसे विलक्षण ही होते हैं, उनके मनोगत भावोंको जाननेमें कौन समर्थ हो सकता है!

महाप्रभु अपने अनुपम प्रभावसे पथके पशु-पक्षी और हिंसक जीव-जन्तुओंको भी प्रेम-प्रदान करते हुए आगे बढ़ रहे थे। हिंसक जन्तु अपने क्रूर स्वभावको छोड़कर प्रभुके पादपद्मोंमें लोटने लगते थे। प्रभु जिस ग्रामसे होकर निकलते, उसी ग्रामके सभी पुरुष हरि-हरि कहते हुए प्रभुको चारों ओरसे घेर लेते थे। इस प्रकार पथके जीव-जन्तुओं-को कृतार्थ करते हुए कुछ दिनोंमें प्रभु अविमुक्त क्षेत्र श्रीवाराणसीपुरीमें पहुँचे। विश्वनाथजीकी काशीपुरीमें पहुँचकर सर्वप्रथम महाप्रभु स्नानार्थ काशीके प्रसिद्ध मणिकर्णिकाघाटपर गये। स्नान करके प्रभु बैठे ही थे कि इतनेमें ही तपन मिश्र नामक एक बंगाली ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचे। पाठकोंको स्मरण होगा कि महाप्रभु जब पूर्वबंगालकी यात्रा करने अपनी शिष्यमण्डलीके साथ गये थे, तब उन्हें ये ही तपन मिश्र मिले थे और प्रभुने इन्हें भगवन्नामका उपदेश करके काशीजी भेजा था। आज सहसा प्रभुको संन्यासीके वेशमें देखकर तपन मिश्र प्रभुके पैरोंमें पड़कर जोरोंसे रुदन करने लगे। प्रभुने मिश्रजीको उठाकर गले लगाया और उनकी कुशल पूछते हुए उनके सिरपर हाथ फेरने लगे। मिश्रजीने गद्गद कण्ठसे कहा—'प्रभो! आपने अपना भक्तवत्सल नाम आज सार्थक कर दिया। मुझ अधमको यहाँ आकर अपने देव-दुर्लभ दर्शनोंसे कृतार्थ कर दिया। अब कृपा करके कुछ काल इस कंगालकी कुटियापर निवास करके इस दीन-हीनको कृतार्थ कीजिये।' महाप्रभुने मिश्रजीकी प्रार्थना स्वीकार की और वे उन्हें साथ लेकर सबसे पहले तो भगवान् विश्वनाथजीके दर्शनोंके लिये गये, फिर बिन्दुमाधवके दर्शन करते हुए तपन मिश्रके घर पधारे। मिश्रजीने पाद्य, अर्घ, आचमन, धूप, दीप, नैवेद्य और फल-फूल आदिसे प्रभुकी यथोचित पूजा की। उनके चरणोंको धोकर चरणामृत लिया और उसे अपने सम्पूर्ण घरमें छिड़का।

महाप्रभु उनके घरपर सुखपूर्वक रहने लगे, उनके पुत्र रघुनाथजी प्रभुकी खूब ही मनोयोगके साथ सेवा करने लगे। वे सदा प्रभुके समीप ही रहते थे, प्रभुको छोड़कर वे कहीं भी नहीं जाते थे।

वहींपर चन्द्रशेखर नामके एक बङ्गाली वैद्य मिल गये, वे यहाँ पुस्तकें लिखकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। नवद्वीपमें एक बार इन्होंने प्रभुके दर्शन भी किये थे और मिश्रजीसे सदा प्रभुकी प्रशंसा सुनते रहते थे। प्रभुके दर्शनोंसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वे प्रभुको अपने घर भिक्षा कराने लगे। इस प्रकार इन दोनों बङ्गाली भक्तोंके आग्रहसे प्रभु दस-बारह दिन काशीजीमें ठहर गये। उसी बीच एक मराठा ब्राह्मण प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगा। उसका सम्बन्ध श्रीस्वामी प्रबोधानन्दजी महाराजसे भी था। उसने जाकर महाप्रभुके प्रेमकी, उनके सङ्कीर्तन और अद्भुत नृत्यकी स्वामीजीसे प्रशंसा की। जिस प्रकार प्रायः अद्वैतवादी सभी बातोंको माया और लीला बताकर उपेक्षा कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने प्रभुके भक्ति-भावकी उपेक्षा-सी कर दी और प्रभुके सम्बन्धमें भी उन्होंने उदासीनताके भाव प्रकट किये। उस मराठा भक्तको यह बात अच्छी नहीं लगी, उसने आकर प्रभुसे कहा। प्रभुने उसे समझाते हुए कहा—'संसारमें भिन्न-भिन्न प्रकृतिके पुरुष होते हैं, जिनके ऊपर भगवान्‌की पूर्ण कृपा होती है उन्हें ही प्रभु-प्रेम प्राप्त हो सकता है। आपको दूसरोंसे क्या, लोग जो चाहें सो कहते रहें, आपको प्रभु-प्रसाद प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये—यही परम श्रेयस्कर मार्ग है।' इस प्रकार अपने इन भक्तोंको सन्तुष्ट करके प्रभु काशीजीसे चलकर तीर्थराज प्रयाग पहुँचे। वहाँ भगवती भागीरथी अपनी बहिन सूर्यनन्दिनी कालिन्दीसे आकर मिलती हैं, उस सितासितके सङ्गम और सम्मिलन-दर्शनसे सभी पुरुषोंको परमानन्द प्राप्त होता है।

महाप्रभु अपने कृष्णकी प्यारी कालिन्दीके दर्शनोंसे एकदम व्याकुल हो गये और जल्दीसे भावावेशमें आकर यमुनाजीमें कूद पड़े। बलभद्रने उन्हें पकड़कर बाहर निकाला। तीर्थराजकी अद्भुत, अपूर्व शोभाको देखकर प्रभु गद्गद कण्ठसे स्तोत्र-पाठ करने लगे।

तीन दिन प्रयागराजमें ठहरकर प्रभु वृन्दावनकी ओर चले। चलते-चलते वे मथुराजीमें पहुँच गये। सबसे पहले उन्होंने विश्रामघाटपर पहुँचकर यमुनाजीमें स्नान किया। व्रजभूमिकी पवित्र रजको पाकर प्रभु फूले नहीं समाते थे। वे रजमें लोट पोट होकर अपने आनन्दको प्रदर्शित कर रहे थे। बड़ी देरतक कालिन्दीके कमनीय श्याम कमलके समान नीले जलमें क्रीड़ा करते रहे। फिर हुङ्कार देकर बाहर निकले और गीले ही वस्त्रोंसे कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे। प्रभुके अद्भुत नृत्यको देखकर सभी दर्शनार्थी तथा मथुरावासी मन्त्रमुग्धकी भाँति एकटक-भावसे प्रभुकी ओर देखने लगे। जो भी आता वही प्रभुको देखते ही 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर कीर्तन करने लगता। हजारों आदमियोंकी भीड़ एकत्रित हो गयी। महाप्रभु शरीरकी सुध भुलाकर प्रेममें उन्मत्त हुए नृत्य कर रहे थे। उसी समय उन्होंने देखा कि भीड़में एक वैष्णव ब्राह्मण बड़े ही प्रेमके साथ सङ्कीर्तन कर रहा है, उसके शरीरमें सभी सात्त्विक भावोंका साथ ही उदय हो रहा है। प्रभु उसके इस अद्भुत प्रेमको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उसका हाथ पकड़कर नृत्य करने लगे।

सङ्कीर्तन समाप्त होनेपर प्रभुने उस ब्राह्मणसे पूछा—'महाभाग! आपको इस अद्भुत प्रेमनिधिकी प्राप्ति कहाँसे हुई है?'

ब्राह्मणने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'प्रभो! प्रेमावतार जगन्मान्य श्रीमाधवेन्द्रपुरी महाराजने मेरे ऊपर कृपा करके मुझे मन्त्र-दीक्षा दी है। वे ही मेरे दीक्षागुरु हैं, मुझमें जो भी कुछ यत्किञ्चित् प्रेम आपको दीखता है वह उन्हीं महापुरुषकी कृपाका फल है।'
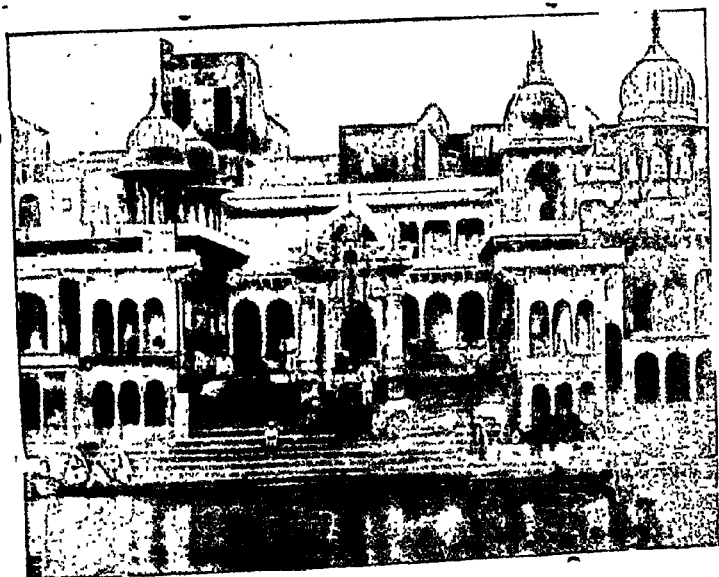
विश्रामघाट—मथुरा
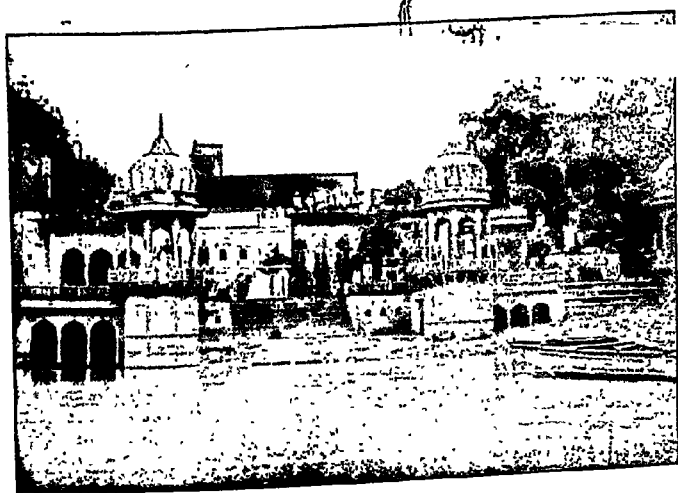
कृष्णगंगाघाट—मथुरा
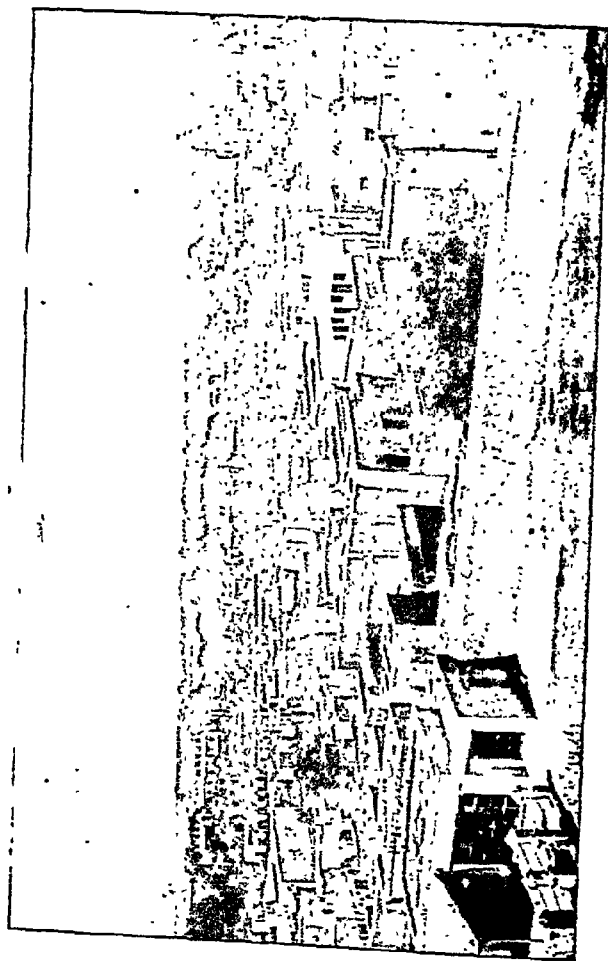
वृन्दावनका एक दृश्य

श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीका नाम सुनते ही प्रभु उस ब्राह्मणके पैरोंमें गिर पड़े और उसे बार-बार प्रणाम करने लगे। उसने भयसे काँपते हुए कहा—'स्वामिन्! यह आप कैसा अनर्थ कर रहे हैं, संन्यासी होकर हमारे ऊपर पाप चढ़ा रहे हैं। आप तो हमारे पूजनीय, वन्दनीय और माननीय हैं। संन्यासी होनेके कारण आप आश्रमगुरु हैं, इसलिये मेरे पैरोंको छूकर मुझे पापका भागी न बनाइये।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'विप्रवर! मैं समझ रहा था कि ऐसा प्रेम मेरे परमगुरु श्रीमाधवेन्द्रपुरीके जनोंमें ही सम्भव हो सकता है। भक्तिके उद्गमस्थान वे ही भगवान् माधवेन्द्रपुरी हैं, मैं उनके शिष्यका शिष्य हूँ, इसलिये आप मेरे गुरुके समान हैं।' प्रभुका परिचय पाकर उस ब्राह्मणको बड़ा सन्तोष हुआ, वह प्रभुको अपने घर ले गया और वहाँ जाकर प्रभुको भिक्षा करायी। ब्राह्मणने प्रभुका बहुत अधिक सत्कार किया। वह प्रभुकी तन, मन, धनसे यथाशक्ति सेवा करने लगा। प्रभुने ब्राह्मणको साथ लेकर (१) अविमुक्तघाट, (२) अधिरूढ़घाट, (३) गुह्यतीर्थ, (४) प्रयागतीर्थ, (५) कनखलतीर्थ, (६) तिन्दुक, (७) सूर्यतीर्थ, (८) वटस्वामी, (९) ध्रुवघाट, (१०) ऋषितीर्थ, (११) मोक्षतीर्थ, (१२) बोधतीर्थ, (१३) गोकर्णघाट, (१४) कृष्णगङ्गा, (१५) वैकुण्ठघाट, (१६) असिकुण्ड, (१७) चतुःसामुद्रिक कूप, (१८) अक्रूरतीर्थ, (१९) याज्ञिक विप्रस्थान, (२०) कुब्जाकूप, (२१) रङ्गस्थल, (२२) मञ्चस्थल, (२३) मल्लयुद्धस्थान, (२४) दशाश्वमेघ आदि यमुनाजीके चौबीसों घाटोंपर स्नान किया और स्वयम्भू, विश्रामघाट, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर, महाविद्या, गोकर्णादि तीर्थोंके दर्शन किये। अब प्रभुने ब्रजमण्डलके बारहों वनोंके दर्शनोंकी इच्छा की इसलिये उस ब्राह्मणको साथ लेकर आप वनोंकी यात्राके लिये चल पड़े।

श्रीवृन्दावन आदि तीर्थोंके दर्शन

क्वचिद्भृङ्गीगीतं क्वचिदनिलभङ्गीशिशिरता
क्वचिद् वल्लीलास्यं क्वचिदमलमल्लीपरिमलः।
क्वचिद् धाराशाली करकफलपालीरसभरो
हृषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम्॥*

(विदग्धमाधव ना० १।२६)

मथुरासे मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन आदि वनोंको देखते हुए और रास्तेमें अनेक तीर्थकुण्डोंमें स्नान, आचमन करते हुए प्रभु भगवान्‌की प्रधान लीलास्थली त्रैलोक्यपावन श्रीवृन्दावनकी भूमिमें पहुँचे। वृन्दावनमें प्रवेश करते ही प्रभु भावावेशमें आकर मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़े। वे चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर पागलकी भाँति इधर-उधर देखने लगे। उन्होंने देखा कहीं तो कदम्बके वृक्षोंकी पंक्तियाँ खड़ी हुई हैं। कहीं करीलके वृक्षोंपर टेंटियाँ और लाल-लाल फूल लगे हुए हैं। कहीं गौएँ चर रही हैं, तो कहीं व्रजके ग्वाल-बाल किलोलें कर रहे हैं। कहीं मयूर नाच रहे हैं तो

---

* अपने प्रिय सखा मनसुखासे भगवान् कह रहे हैं—प्रिय सखे! यह वृन्दावन मेरी इन्द्रियोंको भाँति-भाँतिसे प्रसन्नता पहुँचा रहा है। देखते हो न, किसी स्थानपर मधु-लोलुप भ्रमर अपनी सुरीली तानसे गान कर रहे हैं, कहीं मन्द-सुगन्धित पवन चलकर शीतलता प्रदान कर रहा है, कहीं-कहीं वायुके वेगसे लताएँ नाच-नाचकर अपने सौरभसे सुख पहुँचा रही हैं। कहीं मल्लिकाके पुष्पोंका अमल परिमल मनको मुग्ध कर रहा है, किसी स्थानपर अनारोंके फलोंसे धारावाही रसनिर्झर प्रवाहित हो रहे हैं। [इस प्रकार वृन्दावनमें चारों ओर बहार-ही-बहार है।]

कहीं सारस, हंस, चकवा, जल-मुर्ग आदि जलके पक्षी उड़-उड़कर कालिन्दी-कूलकी ओर जा रहे हैं। प्रभु आँखें फाड़-फाड़कर सबकी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे देखने लगते। कभी जल्दीसे उठकर वृक्षोंको आलिङ्गन करते, उनपरसे बहुत-से पुष्प गिर-गिरकर प्रभुके पादपद्मोंको ढक देते, मानों वृक्ष अपने प्यारेके पैरोंमें श्रद्धाञ्जलिस्वरूप पुष्प चढ़ा रहे हों। प्रभु गौओंकी ओर पूर्वपरिचितकी भाँति दौड़ते, और उनकी पीठोंपर अपने कोमल करोंको फिराते। गौएँ रँभाती हुई पूँछ उठा-उठाकर प्रभुकी ओर दौड़तीं और उनके हाथ-पैरोंको चाटने लगतीं। व्रजके पक्षी प्रभुके बिल्कुल निकट आ-आकर अपनी-अपनी भाषामें कुछ कहते, प्रभु उनकी प्रेमभरी वाणियोंको सुनकर सिर हिलाने लगते, मानों वे उनकी बातोंको समझकर सङ्केतके द्वारा उनका उत्तर दे रहे हैं। प्रभुके आनन्दकी सीमा नहीं रही, वे वृन्दावनमें आते ही सभी बातोंको भूल गये और जिस प्रकार जलसे पृथक् की हुई मछली फिर महासागरमें डाल देनेसे परमानन्दका अनुभव करती है उसी प्रकार व्रजकी पावन रजमें लोटकर प्रभु उसी परमानन्दस्वरूप सुखका अनुभव करने लगे। यहाँसे जाकर प्रभुने व्रजमण्डलके प्रायः सभी तीर्थोंके दर्शन किये। प्रभुके समयमें वृन्दावन सचमुच वन ही था। दस-बीस ब्राह्मणोंके और ग्वालोंके झोंपड़े थे, नहीं तो चारों ओर वन-ही-वन था। बहुत ही भावुक भक्त वहाँ दर्शन करने आते थे और दर्शन करके मथुरा लौट जाते थे। व्रजमण्डलके बहुत-से तीर्थ और कुण्ड लुप्तप्राय हो गये थे। लोग उनका नामतक नहीं जानते थे। जब महाप्रभु संन्यास लेनेसे पूर्व नवद्वीपमें ही रहकर भक्तोंके साथ संकीर्तन करते थे तभी उन्होंने भूगर्भ पण्डित और लोकनाथ गोस्वामीको व्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंको प्रकट करने और उनका जीर्णोद्धार करनेके निमित्त वृन्दावनमें भेजा था। इन लोगोंने जब प्रभुके संन्यासी होनेकी बात सुनी तो ये प्रभु-दर्शनोंकी लालसासे वृन्दावनको

छोड़कर दक्षिणकी ओर चले गये थे, इस कारण वृन्दावन आनेपर प्रभुकी इनसे भेंट नहीं हो सकी। महाप्रभुने स्वयं ही कुछ लुप्त तीर्थोंको प्रकट किया।

जिस स्थानपर भगवान्‌ने अरिष्टासुरका वध किया था, वहाँ 'आरिठ' नामका एक ग्राम है, महाप्रभुने वहाँ आकर लोगोंसे पूछा कि 'यहाँपर राधाकुण्डका पुराणोंमें उल्लेख मिलता है, वह राधाकुण्ड कहाँ है?' प्रभुके इस प्रश्नका उत्तर ग्रामवासी नहीं दे सके। उनमेंसे किसीको भी राधाकुण्डका पता नहीं था। प्रभुका साथी ब्राह्मण भी राधाकुण्डसे अनभिज्ञ था, तब प्रभुने स्वयं ध्यानमग्न होकर राधाकुण्ड जाना और दो खेतोंके बीचमें भरे हुए थोड़े-से जलमें स्नान करके आपने राधाकुण्डका माहात्म्य वर्णन किया। उस दिनसे वही राधाकुण्डके नामसे प्रसिद्ध हो गया। राधाकुण्डको प्रकट करके प्रभु कुसुमसरोवरपर आये। वहाँ श्रीगोवर्धन-पर्वतके दर्शन करके आप पुलकित हो उठे। भूमिमें लोटकर आपने गिरिराजको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उसकी छोटी-छोटी शिलाओंको लेकर हृदयसे चिपटाने लगे। गोवर्धन भगवान्‌का अभिन्न विग्रह है। शास्त्रोंमें इसे भगवान्‌का शरीर ही बताया गया है। गोवर्धनमें प्रभुने हरिदेवजीके दर्शन किये, फिर ब्रह्मकुण्डमें स्नान करके वहीं भिक्षा की।

गोवर्धन-पर्वतके ऊपर गोपालभगवान्‌का मन्दिर था, जिन्हें श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीने प्रकट किया था। उनके दर्शनोंकी प्रभुको इच्छा हुई, किन्तु प्रभु तो गिरिराजके ऊपर चढ़ना ही नहीं चाहते। वे सोचने लगे कि गोपालभगवान्‌के दर्शन कैसे हों। सर्वान्तर्यामी भगवान् अपने भक्तकी इच्छाको जान गये। वे तो भावके भूखे हैं, भक्तोंके हाथ तो वे बिना कौड़ी-दामके ही बिक जाते हैं, फिर पर्वतसे नीचे उतरना कौन-सी बात है। उन दिनों गोपालभगवान्‌की स्थिति अस्थिर थी। मुसलमानोंके उत्पातोंके कारण वे इधर-से-उधर घूमते थे। कभी किसी कुञ्जमें ही पूजा हो रही है, तो कभी किसी ग्राममें ही विराजमान हैं।

श्रीराधाकुण्ड
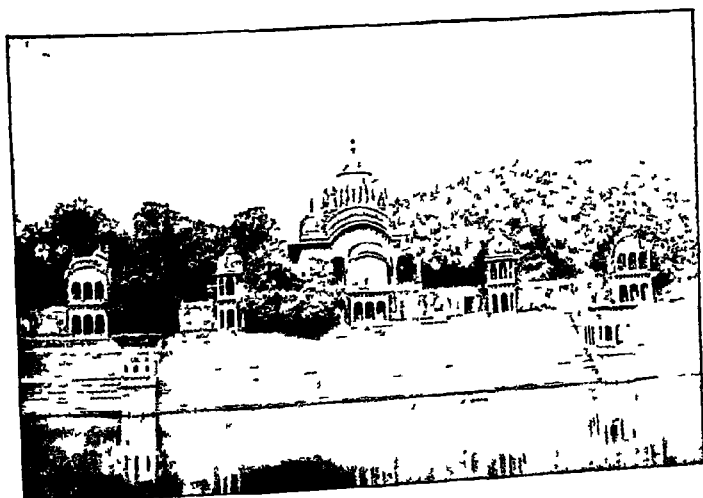
कुसुम-सरोवर

कालीदह—वृन्दावन
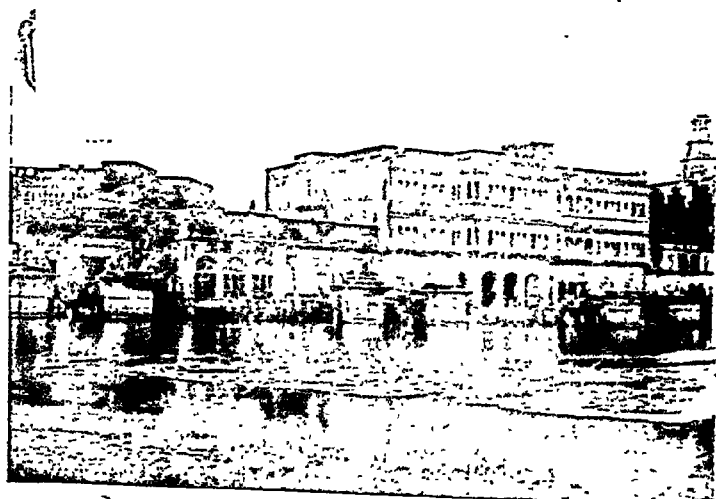
वे तो ब्रजवासियोंके सखा हैं। ईश्वर या परमात्मा होंगे तो शिव, ब्रह्मा अथवा लक्ष्मीजीके लिये होंगे। ब्रजमें तो वे वही पुराने 'कनुआ' हैं। जब ब्रजवासियोंको यवनोंसे भय है, तो उन्हें भी होना चाहिये, इसलिये ब्रजवासी ग्वाल-बाल जहाँ भी जाते वहीं गोपालको साथ ले जाते। उन दिनों एक तुर्क सेना मूर्तियोंको विध्वंस करती हुई आ रही थी, ब्रजवासी राजपूत इसी भयसे अन्नकूट नामक ग्रामसे गोपालजीको 'गाठौली' नामक ग्राममें ले आये और वहीं गुप-चुप चार-पाँच दिनोंतक उनकी सेवा-पूजा करते रहे। गाठौली ग्राम गिरिराजके नीचे है, प्रभुने जब सुना कि गोपाल-भगवान् तो मानों मुझे ही दर्शन देनेके निमित्त पर्वतसे नीचे उतरकर गाठौलीमें आ विराजे हैं, तब तो प्रभुके आनन्दकी सीमा नहीं रही। प्रातःकाल मानसी गङ्गामें स्नान करके गोवर्धन-पर्वतकी परिक्रमा प्रारम्भ कर दी। गोवर्धन-पर्वतकी परिक्रमा सात कोसकी बताते हैं, परिक्रमा जहाँसे प्रारम्भ होती है वहीं समाप्त करते हैं, बहुत-से मनुष्य तो दण्डवत् करते हुए ही सम्पूर्ण परिक्रमाको करते हैं। प्रभुने भी पूरी परिक्रमा की। महाप्रभुके साथ बलभद्र भट्टाचार्य और वह साधु ब्राह्मण ये दो सेवक और थे, सभी गोविन्दकुण्डपर पहुँचे और वहाँसे गाठौलीमें गोपालजीका आगमन सुनकर वहाँ पहुँचे। महाप्रभु गोपालजीकी मन-मोहिनी मूर्तिके दर्शनोंसे मुग्ध हो गये और वे प्रेममें बेसुध होकर गोपालजीके सामने नृत्य करने लगे और गोपाल-स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करने लगे। तीन दिन प्रभु गाठौलीमें रहकर गोपालजीके दर्शनोंका सुख लेते रहे। इसके अनन्तर आप नन्दीश्वर, पावनसरोवर, शेषशायी, लक्ष्मी, खेलातीर्थ, माण्डीरवन, भद्रवन, लोहवन, गोकुल, महावन आदि भगवान्की लीला-स्थलियोंके दर्शन करते हुए फिर मथुराजीमें लौट आये और उसी साधु ब्राह्मणके घरमें आकर ठहरे। ब्राह्मणने प्रभुकी खूब सेवा की थी, उसीसे सन्तुष्ट होकर प्रभु उसके घरमें रहने

लगे । वहाँ नगरकी भीड़-भाड़को देखकर मथुरा और वृन्दावनके बीचमें अक्रूरघाटपर एकान्त समझकर वहाँ रहने लगे । वहींसे आपने वृन्दावनमें जाकर कालीह्रद, प्रस्कन्दनक्षेत्र, द्वादशआदित्य, केशीतीर्थ, रासस्थली आदि पुण्य-तीर्थोंके दर्शन किये और सायंकालको फिर लौटकर अक्रूर-तीर्थमें ही आ गये । वहाँ भी बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंके निमित्त आने-जाने लगे, अतः आप वृन्दावनमें यमुनाजीके तटपर एकान्तमें रहकर भगवन्नाम-सङ्कीर्तन करते रहे । वहींपर कृष्णदास नामका एक राजपूत क्षत्रिय प्रभुके शरणापन्न हुआ और वह घरबार छोड़कर प्रभुके ही साथ रहने लगा ।

एक दिन सम्पूर्ण वृन्दावनमें हल्ला हो गया कि वृन्दावनमें फिर श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए हैं, वे कालीदहमें कालियके फणपर नृत्य करते हैं और कालियके सिरमेंकी मणि प्रत्यक्ष चमकती है । बहुत-से लोग इस बातको सुनकर प्रभुके पास पूछने आये कि क्या यह बात सत्य है । प्रभुने कहा—'आप ही जाकर देखिये, सत्य है या असत्य ।' बहुत-से लोग रात्रिमें कालीदहपर जाकर पहुँचे । सचमुच वहाँ एक काला आदमी खड़ा था और दूरसे एक मणि-सी चमक रही थी । लोग आनन्द और कुतूहलके साथ उसी ओर बढ़ने लगे । बलभद्र भट्टाचार्यने भी कालीदहपर जाकर साक्षात् श्रीकृष्णभगवान्के दर्शनोंकी इच्छा प्रकट की । प्रभुने प्रेमपूर्वक उसके गालपर एक हलका-सा चपत जमाते हुए कहा—'लोगोंकी गति तो भेड़ोंके समान है, एक भेड़ कुँएमें गिर पड़ती है, तो सब-की-सब उसके पीछे ही कुँएमें गिर पड़ती हैं । इस कलिकालमें भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन होना कोई साधारण बात थोड़े ही है कि सभीको भगवान्के साक्षात् दर्शन हो जायँ । करोड़ोंमें कोई ऐसे एक-दो भाग्यवान् पुरुष होते हैं, जिन्हें भगवत्-कृपासे प्रभुके साक्षात् दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हो । यहीं बैठकर भगवन्नामका जाप करो । सबेरे लोगोंसे पूछ लेना कि क्या बात थी ।' भट्टाचार्यने प्रभुके समझानेपर रात्रिमें काली-

दहपर जानेका विचार छोड़ दिया, इधर लोगोंकी भीड़ वहाँ पहुँची। वहाँ उन्होंने देखा, एक काले रंगका मल्लाह डोंगीमें लालटेन रखकर मछली मार रहा है। उसके हाथमें मछली मारनेकी वंशी थी। लोगोंका भ्रम दूर हुआ। प्रातःकाल जब लोग प्रभुके दर्शनोंके लिये आये तब प्रभुने उनसे पूछा—'क्या आपलोगोंको श्रीकृष्णभगवान्‌के दर्शन हुए?'

एक तेजस्वी वृद्ध पण्डितने प्रभुको सभी वृत्तान्त सुनाया और अन्तमें कहा—'वहाँ तो हमें दर्शन हुए सो हुए ही, यहाँ भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन अवश्य हो गये।'

प्रभुने चारों ओर देखते हुए कहा—'यहाँ कहाँ हैं भगवान्? मुझे भी भगवान्‌के दर्शन करा दीजिये। मैं भगवान्‌के दर्शनोंके लिये बड़ा उत्सुक हूँ।'

उस ब्राह्मणने प्रभुकी ओर सङ्केत करते हुए कहा—'संन्यासीके छद्मवेशमें ये ही तो सामने श्रीहरि बैठे हैं।' इतना सुनते ही प्रभुने उस वृद्ध ब्राह्मणके पैर पकड़ लिये और रोते-रोते कहने लगे—'महानुभाव! आपकी इस अद्भुत निष्ठाको धन्य है, आपको अवश्य ही भगवान्‌का साक्षात् हो गया है, तभी तो आप चराचर विश्वमें भगवत्-भावना रखते हैं। सच्चे भक्तको अपने भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरा कोई रूप भासता ही नहीं। उसे सर्वत्र अपने प्यारेके ही दर्शन होते हैं।' इस प्रकार उस ब्राह्मणकी भाँति-भाँतिसे स्तुति करके उसे विदा किया।

महाप्रभु दिनमें वृन्दावनमें स्नान-जपसे निवृत्त होकर भिक्षा अक्रूर-तीर्थपर ही आकर किया करते थे। ग्रामवासी ब्राह्मण तथा और द्विजाति-के लोग नित्य ही प्रभुको भिक्षा करानेका आग्रह किया करते थे। कभी-कभी तो दस-दस, पाँच-पाँच आदमियोंका साथ ही निमन्त्रण आ जाता। महा-प्रभुकी वहाँ विचित्र दशा थी, जब भी उन्हें इस बातका स्मरण हो उठता कि

इसी स्थानमें डुबकी मारते हुए अक्रूरको भगवान्‌के दर्शन हुए थे, तभी आप जल्दीसे यमुनाजीमें कूद पड़ते और शरीरकी सुधि भूलकर बेहोश होकर यमुनाके तीक्ष्ण प्रवाहमें बहने लगते। इसलिये भट्टाचार्यको प्रभुकी बड़ी ही सावधानीसे सदा देख-रेख करनी पड़ती। अतएव भट्टाचार्य-ने उस ब्राह्मणसे सम्मति लेकर प्रभुको लौटा ले चलनेका निश्चय किया। उन्होंने प्रभुसे निवेदन किया—'प्रभो! यहाँ अब एकान्त विशेष नहीं रहता, निमन्त्रण भी बहुत आने लगे हैं। आपकी यहाँ दशा भी विचित्र-सी हो जाती है। इसलिये मेरी प्रार्थना है, कि अब यहाँसे चलना चाहिये। माघकी संक्रान्ति भी सन्निकट है, अभीसे चलेंगे तो प्रयाग पहुँचकर मकर-स्नान कर सकेंगे। अब जैसी आज्ञा हो!'

प्रभुने अत्यन्त ही प्रेमपूर्वक कहा—'भट्टाचार्य महाशय, तुम्हारी ही कृपासे मुझे भगवान्‌की पुण्य-लीलास्थलीके दर्शन हो सके हैं। तुमने ही मुझे वृन्दावनके दर्शन कराकर मेरे इस जन्मको सार्थक किया है। अतः यह शरीर तुम्हारा ही है। तुम इसे जहाँ ले जाना चाहो वहाँ ले जाओ, मुझे इसमें कुछ भी आपत्ति न होगी।'

प्रभुकी सम्मति पाकर सभीको अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई और वह प्रभुका कृपापात्र राजपूत ठाकुर तथा मथुराका साधु ब्राह्मण ये दोनों भी प्रभुके साथ-ही-साथ चलनेको प्रस्तुत हुए। भट्टाचार्यके सहित चारों ही मथुराजीमें आये और वहाँसे यमुना पार करके प्रयागकी ओर चलने लगे। व्रजकी पवित्र भूमिको परित्याग करते समय प्रभुको अपार दुःख हुआ। वे शोकमें विह्वल होकर भूमिपर गिर पड़े और बहुत देरतक अचेतना-वस्थामें पड़े रहे। जिस किसी भाँति तीनोंने मिलकर प्रभुको सावधान किया और उन्हें साथ लेकर आगे बढ़ने लगे।

पठानोंको प्रेम-दान और प्रयागमें प्रत्यागमन

मलयाचलगन्धेन त्विन्धनं चन्दनायते ।
तथा सज्जनसङ्गेन दुर्जनः सज्जनायते ॥*

(सु० र० भां० ९०।४)

यमुना पार करके प्रभु अनिच्छापूर्वक चल रहे थे। वृन्दावनकी पुण्य-भूमिको छोड़नेमें उन्हें अपार कष्ट हो रहा था। भट्टाचार्य आदि

---

* मलयाचलकी सुगन्धसे ईंधन भी जिस प्रकार चन्दन बन जाता है वैसे ही सज्जनोंके संसर्गमात्रसे दुर्जन पुरुष भी सज्जन बन जाते हैं।

प्रभुके साथी उन्हें पकड़कर चल रहे थे। महाप्रभु अब अधिक चलनेमें समर्थ न हुए। वे एक सुन्दर सघन वृक्षकी छायामें अपने साथियोंके सहित बैठ गये। जहाँ बैठकर प्रभु विश्राम कर रहे थे वहीं पासमें कुछ गौएँ चर रही थीं। व्रजमण्डलकी सुन्दर और सीधी गौएँ अब भी अपने गोपालकी चुलबुली और प्रेममयी मूर्तिका स्मरण दिलाती हैं। गौएँ इधर-उधर चर रही थीं। पासमें ही गौएँ चरानेवाले ग्वाल-बाल आपसमें क्रीड़ा कर रहे थे। व्रजमण्डलकी परिधि चौरासी कोसकी है। इस चौरासी कोसकी बोलीमें कितनी मिठास है, कितनी सरलता है और कितनी निश्छलता है, उसे हृदयवान् पवित्र पुरुष ही जान सकता है। व्रजमण्डलके गाँवोंमें पर्देका विशेष बन्धन नहीं है। होलीके दिनोंमें स्त्री-पुरुष निष्कपटभावसे एक दूसरेके साथ बिना जान-पहचानके होली खेलते हैं। यों निर्विकार तो पृथ्वीपर कोई है ही नहीं, किन्तु अन्य स्थानोंकी अपेक्षा व्रजमण्डलमें विकारी भाव बहुत कम है। व्रजमें 'सारे' कहना तो एक साधारण-सी बात है। सारे वहाँ गाली नहीं समझी जाती। प्रायः बच्चे बात-बातमें सारे कहते हैं। व्रजमण्डलके अनपढ़ ग्वाल-बालोंके मुखोंसे भी आप श्रीकृष्ण-लीलाके ही पद सुनेंगे। व्रजके अनपढ़ मनुष्य श्रीकृष्ण-लीला-सम्बन्धी रसिया बड़े ही स्वरसे गाते हैं। सुनते-सुनते उनमेंसे रस टपकने लगता है और सुननेवाला उस मधुर रसमें छक-सा जाता है। गौओंको एक ओर छोड़कर ग्वाल-बाल मिलकर गीत गा रहे थे—सभी मिलकर हाथ उठा-उठाकर और कमरको हिला-हिलाकर गा रहे थे—

बारो सो कन्हैया कालीदह पै खेलन आयो रे।
मारचो टोल गेंद गई दहमें—
(अररररर) वह तो गेंदके संगई धायो रे।

कुछ ग्वाल-बाल गा रहे थे, एक उनमेंसे त्रिभङ्ग-ललित-गतिसे खड़ा होकर बाँसुरी बजा रहा था। वह अपने साथियोंकी तानके साथ ही चेष्टाको बनाता हुआ और सिरको इधर-उधर घुमाता हुआ वंशी बजा रहा था। महाप्रभुने व्रजमण्डलमें मुरलीकी मधुर तान सुनी, उनकी दृष्टि सामनेकी क्रीड़ा करती हुई ग्वाल-मण्डलीके ऊपर पड़ी। बस, फिर क्या था, वे प्रेममें गद्गद होकर अपने आपेको भूल गये और एकदम ऊपर उछलने लगे। उछलते-उछलते बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इतनेमें ही कोई मुसलमान राजकुमार अपने धर्मगुरुके साथ दस-बीस घुड़सवारोंको लिये हुए वहाँ आ निकला। उन सवारोंमेंसे किसी एकने बेहोश हुए प्रभुको देखा। महाप्रभुके मुखसे झाग निकल रहे थे और उनकी आँखें ऊपर चढ़ी हुई थीं। प्रभुकी ऐसी दशा देखकर उस सवारने अपने स्वामीसे यह बात कही। सभी सवार फौरन अपने-अपने घोड़ोंपरसे उतर पड़े। महाप्रभुके अद्भुत रूपलावण्ययुक्त दिव्य चेहरेको देखकर सभी हठात् उनकी ओर आकर्षित हो गये और उन सबके हृदयमें प्रभुके प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया। उन्होंने समझा कि इस संन्यासीके पास कुछ द्रव्य होगा, उसीके लालचसे इसके साथियोंने इसे धतूरा दे दिया है। यह सोचकर उन सवारोंके सरदारने प्रभुके सभी साथियोंको कसकर बाँध लिया और कहने लगे—'यहीं इनको कत्ल कर डालो।'

कत्लका नाम सुनते ही बंगाली भट्टाचार्य महाशय तो सिटपिटा गये। बंगालियोंकी ढीली धोती वैसे ही मशहूर है, फिर परदेशमें तो अच्छे-अच्छे साहसियोंकी सिटली भूल जाती है। बेचारे भट्टाचार्य थर-थर काँपने लगे। इसपर उस मथुराके साधु ब्राह्मणने साहस करके कहा—'आपलोग हमारे ऊपर व्यर्थ ही सन्देह करते हैं। हम यहींके तो हैं। हमें आप यहाँके शासनकर्ताके पास ले चलिये। वहाँ हमारे

बहुत-से यजमान और शिष्य हैं। वे सब हमें जानते हैं। हम कभी ऐसा काम कर सकते हैं ?' ब्राह्मणकी इस बातसे उन लोगोंको सन्तोष नहीं हुआ। प्रभुका तीसरा साथी राजपूत था। उसका नाम था कृष्णदास। इस घटनासे कृष्णदासके राजपूती खूनमें जोश आ गया। वह कड़ककर बोला—'मालूम पड़ता है, अभी तुमलोगोंने हमें पहचाना नहीं। हम राजपूत हैं राजपूत। शस्त्र लेकर युद्धमें लड़ना ही हमारा नित्यका काम है। अभी मेरे आवाज देनेपर सैकड़ों योद्धा यहाँ एकत्रित हो जायँगे और बात-की-बातमें तुम्हें अपने इन कड़े वचनोंका मजा मिल जायगा।'

इस बातसे मनमें कुछ भयभीत-से होकर वे सवार अपने पीरसाहबकी ओर देखने लगे। पीरजीने कुछ गम्भीरताके साथ शान्तस्वरमें पूछा—'हम यह जानना चाहते हैं कि ये इतने सुन्दर तेजस्वी और स्वस्थ शरीरके युवक संन्यासी बेहोश क्यों पड़े हैं ?'

कृष्णदासजीने कहा—'ये हमारे गुरु हैं, इन्हें कभी-कभी मिरगीका दौरा हो जाता है, इस समय ये उसीके दौरेसे बेहोश पड़े हैं।'

कृष्णदास इतना कह ही रहे थे कि प्रभु उसी समय चैतन्यता लाभ करके उठकर खड़े हो गये और जोरोंसे प्रेममें गद्गद होकर नृत्य करने लगे। तब राजकुमार बिजलीखाँने पूछा—'साधू बाबा ! आप अबतक बेहोश क्यों पड़े थे ? मालूम पड़ता है, आपके इन साथियोंने आपको भूलसे धतूरा खिला दिया है, उसीसे आप बेहोश थे। अपने रुपये-पैसे देख लीजिये। इन धतूरा खिलानेवाले साथियोंको आप जो कहेंगे, वही उचित दण्ड दिया जायगा।'

प्रभुने अत्यन्त ही सरलताके साथ कहा—'भाइयो ! ये मेरे साथी मेरे दूसरे शरीर ही हैं। इन्हींकी कृपासे तो मुझे व्रजमण्डलके समस्त तीर्थोंके दर्शन हो सके हैं। मैं तो भिक्षुक संन्यासी हूँ, कामिनी-काञ्चनका

कभी स्पर्श नहीं करता । मुझे धतूरा देनेसे किसीको क्या लाभ हो सकता है ? आपलोग घबड़ायें नहीं, मुझे कभी-कभी मिरगीका दौरा हो उठता है, उसीके दौरेमें मैं बेहोश हो गया था, और कोई भी कारण नहीं है ।' प्रभुके ऐसा कहनेपर उन लोगोंने सभी साथियोंके बन्धन खोल दिये ।

अब प्रभुकी और उस राजकुमारके धर्म-गुरु (पीरसाहब) की परस्परमें कुछ धार्मिक बातें होने लगीं । वह यवन राजकुमार बड़ा ही सहृदय, सुशील, शान्त और कोमल प्रकृतिका था, प्रभुके दर्शनोंसे ही उसपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा । वह प्रभुकी सरलता, भावुकता और तन्मयताको देखकर मुग्ध हो गया और हृदयसे उन्हें प्यार करने लगा । पीरसाहब भी धर्मान्ध नहीं थे, उनके हृदयमें भी सदसद्विवेक, विचार और प्रेम-प्रसङ्गको समझनेकी शक्ति थी । प्रभुकी प्रेम-भरी बातोंको सुनकर वह अपने इस्लामीपनके आग्रहको छोड़कर प्रभुके शरणापन्न हुआ । प्रभुके पैर पकड़कर वह कहने लगा—'आप सचमुच नारायण हैं, आपके दर्शनोंसे मुझे बड़ी शान्ति हुई है । अब आप मेरे उद्धारका कोई उपाय बताइये । मैं तो पीरपनके मिथ्याभिमानमें अपने स्वरूपको ही भूल गया था । आपने मुझ डूबते हुएको हाथ पकड़कर उबारा है, अब आप ही मुझे आगेका रास्ता भी कृपा करके बतावें ।'

प्रभुने कहा—'आपका हृदय शुद्ध है, इसमें अभिमान रह ही नहीं सकता । यह तो रामके रहनेकी जगह है । अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयोंकी बातें जानते हैं । भगवान् सर्वशक्तिमान् और सब कुछ करनेमें समर्थ हैं । उनसे किसीके हृदयका भाव छिपा नहीं है । उन्हें किसी भी नामसे पुकारिये, उनके किसी भी रूपका सच्चे हृदयसे ध्यान कीजिये, उसीसे वे प्रसन्न हो जायँगे, क्योंकि संसारमें जितने नाम हैं, जितने रूप हैं, ये सब उन्हींके हैं । उनके बिना किसी नाम-रूपकी प्रतीति ही नहीं हो

सकती। भगवान्‌को दास्यभावसे भजना चाहिये। अपनेको गुरु, आचार्य या शिक्षक न समझना चाहिये। आजसे अपनेको राम-दास समझिये इसी-में आपका कल्याण है।'

बस, उसी समयसे उसने अपना नाम रामदास रख लिया और वह 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहकर नृत्य करने लगा। राजकुमार बिजलीखाँ तो पहलेसे ही प्रभुको आत्मसमर्पण कर चुका था, उसके कोमल हृदयमें प्रभुकी प्रेममयी मूर्ति पहलेसे ही विराजमान हो चुकी थी। किन्तु अब तो वह अपनेको नहीं रोक सका। अपने धर्मगुरुके इस परिवर्तनका उसके ऊपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वह भी कृष्ण-कृष्ण कहकर प्रभुके चरण-कमलोंमें लोटने लगा। प्रभुने उसे प्रेमालिङ्गन प्रदान किया। मानों उसके शुद्ध हृदयमें प्रभुने शक्तिका सञ्चार कर दिया हो। प्रभुके प्रेमालिङ्गनको पाते ही सरलहृदय राजकुमार पागलकी भाँति नृत्य करने लगा। उसी समय उसने इस्लामी धर्मकी पद्धतिको छोड़कर वैष्णव-धर्मकी शरण ली। वह अपने साथियोंके सहित सदा श्रीकृष्ण-कीर्तनमें ही मग्न रहने लगा। वे सब-के-सब 'पाठान वैष्णव' के नामसे प्रसिद्ध हुए। उनका एक अलग दल ही बन गया। बिजलीखाँ हिन्दुओंके जिस तीर्थमें भी जाता वहीं वैष्णव लोग उसके भक्ति-भावसे सन्तुष्ट होकर उसका अत्य-धिक आदर करते।

इस प्रकार पठानोंको प्रेम-दान देकर प्रभु गङ्गाजीके किनारे सोरों (सूकरक्षेत्र) में पहुँचे। सोरोंमें गङ्गा-स्नान करके प्रभु बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने साथी कृष्णदासको तथा उस माथुरिया साधुब्राह्मणको यहाँसे लौट जानेकी आज्ञा दी। इसपर वे प्रभुके पैर पकड़कर रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो! यदि आप हमें सदा अपने पास रखना नहीं चाहते तो प्रयागतक चलनेकी आज्ञा तो अवश्य ही दीजिये। मकरकी

पठानोंको प्रेमदान

संक्रान्तिका स्नान करके हम लौट आवेंगे।' प्रभुने उन दोनोंकी विनती स्वीकार कर ली और आप अपने सभी साथियोंके सहित भगवती भागीरथी-के किनारे-किनारे प्रयागकी ओर चले। गङ्गाजीके किनारेके प्रायः सभी ग्राम गंगामाताके प्रभावके कारण बड़े ही शुद्ध-पवित्र होते हैं। उन ग्रामों-के प्रायः सभी गृहस्थ साधु-महात्माओंको बड़ी ही श्रद्धाके साथ भिक्षा देते हैं। इसीलिये अच्छे-अच्छे विरक्त साधु-महात्मा राजपथ (सड़क) से कभी यात्रा नहीं करते, वे निरन्तर माताका दर्शन करते हुए और माता-के अमृत-तुल्य जलका पान करते हुए गङ्गाजीके किनारे-किनारे ही विचरण करते हैं। गङ्गाजीके किनारे-किनारे यात्रा करनेमें पग-पगपर प्रयागका फल मिलता है। गङ्गाजीके किनारेको साधु-महात्माओंका राजमार्ग ही समझना चाहिये। प्रभु भी गङ्गाजीके किनारेके ग्रामोंमें हरि-नाम-सङ्कीर्तनका प्रचार करते हुए और लोगोंको प्रेमानन्दमें प्लावित करते हुए प्रयाग पहुँचे, तथा वहाँपर पुनः यमुनाजीके दर्शन करके प्रेममें उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे। प्रयागराजमें सङ्गमपर वैसे ही सदा मेला-सा लगा रहता है, किन्तु प्रभुके आनेसे उस मेलेकी शोभा और भी अधिक बढ़ गयी। हजारों आदमी आ-आकर प्रेममें विभोर होकर प्रभुके साथ नाचने लगते और नाचते-नाचते बेहोश होकर भूमिपर गिर पड़ते। इस प्रकार प्रभुके प्रयागमें आनेसे वहाँपर भक्तिकी एक प्रकारसे बाढ़-सी आ गयी। सभी प्रभु-प्रदत्त प्रेमासवका पान करके पागल-से बन गये और अपने आपेको भूलकर सदा—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव।

इन भगवान्‌के सुमधुर नामोंसे आकाशमण्डलको गुँजाने लगे।

श्रीरूपको प्रयागमें महाप्रभुके दर्शन

देशे देशे दुराशाकवलितहृदयो निष्कृपाणां नराणां
धावं धावं पुरस्तादतिकुमतिरहं जन्म सम्पादयामि ।
आधायाधाय राधाधव तव चरणाम्भोजमन्तःसमाधा-
वन्तेऽरण्येऽतिपुण्ये पुलकितवपुषो वासरान् वाहयन्ति ॥*

(सु० र० भां० ३९२ । २३०)

गौड़ेश्वरके मन्त्री रूप और सनातन—इन दोनों भाइयोंको पाठक भूले न होंगे । रामकेलि नामक ग्राममें प्रभुके दर्शन करके और नूतन जन्म पाकर ये दोनों भाई प्रभुसे विदा हुए । प्रभुके दर्शनोंसे ही इनके भीतर छिपी हुई भावुकता और भगवद्भक्ति एकदम प्रस्फुटित हो उठी । इन्हें अपने पूर्वकृत्योंपर पश्चात्ताप होने लगा । साधु-सङ्गसे संसारमें मनुष्य-शरीरकी सार्थकताका बोध होता है और तभी अपने गतजीवनकी निरर्थकताका भान होने लगता है । उसी समय हृदयमें पश्चात्तापकी अग्नि जलने लगती है, उस अग्निमें पड़कर सुवर्णके समान मन दहकने लगता है । पश्चात्तापरूपी अग्निके उत्तापसे मनका मैल जलकर भस्म हो

---

* हाय ! मैं ही एक ऐसा कुबुद्धि हूँ जो दुराशाग्रस्त हृदयसे देश-देशमें निर्दयी धनी मनुष्योंके आगे दौड़-दौड़कर अपना जन्म व्यर्थ गँवा रहा हूँ । हे राधाकान्त ! सुबुद्धि तो वे हैं जो अत्यन्त पुनीत काननके भीतर समाधिमें तुम्हारे चरणारविन्दोंका ध्यान करते-करते रोमाञ्चित शरीरसे दिन व्यतीत करते हैं ।

जाता है, और फिर केवल शुद्ध सुवर्ण ही शेष रह जाता है। फिर उसमें मैलका नामतक नहीं रहता, वह एकदम निर्मल होकर चमकने लगता है, उसीमें होकर भगवान्‌के दर्शन होते हैं। दर्शन क्या होते हैं भगवान् उसमें आकर विराजमान हो जाते हैं और फिर उसे अपना घर ही नहीं, कलेवर बना लेते हैं। इसलिये साधु-सङ्गका प्रधान फल पूर्वकृत पापोंका पश्चात्ताप ही है। जिसे साधु-सङ्ग पाकर भी पश्चात्ताप नहीं हुआ, उसे या तो यथार्थ साधु-सङ्ग ही प्राप्त नहीं हुआ या वह पूर्वजन्मकृत पापोंके कारण इतना अपात्र है कि अभी उसे चिरकालतक साधु-सेवा करनेकी आवश्यकता है। जब भी पूर्वकृत कर्मोंके लिये हृदयमें घबड़ाहट हो और प्रभु-प्राप्तिके लिये हृदय सदा छटपटाता-सा रहे, तभी समझना चाहिये कि साधु-सङ्गतिका वास्तविक फल मिल गया।

ये दोनों ही भाई भाग्यवान् थे, भगवान्‌के निज जन थे, अनुग्रह-दृष्टिके जीव थे। प्रभुके दर्शनमात्रसे ही इनकी कायापलट हो गयी। प्रभुके दर्शन करते ही इन्हें पद, प्रतिष्ठा, परिवार, पैसा और प्रेय पदार्थोंसे एकदम घृणा हो गयी। इनका मनमधुप वृन्दावनकी कुञ्जोंमें विहार करनेके लिये छटपटाने लगा। जिस प्रतिष्ठित पदके लिये संसारी लोग सब कुछ करनेके लिये तैयार हो जाते हैं, वही राजमन्त्रीका पद उन्हें घोर बन्धन-सा प्रतीत होने लगा। रूप तो लौटकर गौड़ गये ही नहीं। वे अपनी धन-सम्पत्तिको नावपर लादकर दस-बीस नौकरोंके साथ अपनी जन्मभूमि फतेहाबादको चले गये। वहाँ जाकर अपना आधा धन तो उन्होंने ब्राह्मण और कंगालोंको बाँट दिया। कुछ परिवारके लिये रख दिया और दस हजार रुपये गौड़में एक मोदीकी दूकानपर जमा कर दिये।

इधर महाभाग सनातनकी दशा रूपसे भी अधिक विचित्र हो गयी। वे लौटकर राजधानीमें तो गये, किन्तु राजकाज करनेमें एकदम असमर्थ-से हो गये। सब काम मनसे ही होते हैं, मन तो एक ही है,

उससे चाहे इस लोकका काम करा लो या परमार्थके मार्गका शोधन करा लो। एक मन दो काम कदापि नहीं कर सकता। सनातन जानते थे कि बादशाह मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करता है, यदि मैं एकदम राजकाजसे त्यागपत्र दे दूँ, तो बादशाह उसे कदापि स्वीकार न करेगा और फिर आजकल तो उसका उड़ीसा-देशके महाराजसे युद्ध छिड़ा हुआ है। वह मेरे ऊपर सबसे अधिक विश्वास रखता है, ऐसे समयमें वह मुझे कभी भी न छोड़ेगा। यह सब सोचकर उन्होंने बादशाहको कहला भेजा—'मैं बीमार हूँ, राजकाज करनेमें एकदम असमर्थ हूँ। कुछ समयका अवकाश चाहता हूँ।'

बादशाहको इनकी बीमारीकी बड़ी चिन्ता हुई, उसने अपने दरबारके प्रधान हकीमको इनके इलाजके लिये भेजा। वैद्यने जाकर इनकी नाड़ी देखी किन्तु वह अनाड़ी इनकी नाड़ीको क्या पहचान सकता है? इनकी वेदनाको तो कोई परमार्थी वैद्य ही जान सकता था, इस लोकके वैद्योंकी पुस्तकोंमें न तो इस रोगका निदान है और न चिकित्सा। राजवैद्यने इनके सम्पूर्ण शरीरकी परीक्षा करके कहा—

'महाशय, मुझे तो आपके शरीरमें कोई रोग दीखता नहीं।' इस बातको सुनकर सनातनजी मुसकरा दिये, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

दरबारी हकीमने जाकर बादशाहसे कह दिया—'श्रीमन्! मुझे तो उनके शरीरमें कोई रोग दीखा नहीं। वे तो भले-चंगे बैठे हुए पण्डितोंसे भागवतकी कथा सुन रहे हैं। मैंने तो आजतक ऐसा रोगी कोई भी नहीं देखा।'

बादशाह इतना सुनते ही आगबबूला हो गया, वह उसी समय उठकर स्वयं सनातनजीके वासस्थानपर पहुँचा। सचमुच सनातनजी

बैठे हुए कथा सुन रहे थे। दस-बीस ब्राह्मण पण्डित उनके इधर-उधर बैठे हुए थे। बादशाहको सहसा अपने यहाँ आते देखकर सनातनजी उठकर खड़े हो गये और उनकी अभ्यर्थना करके उनके बैठने-योग्य एक सुन्दर-सा आसन दिया। सबके बैठ जानेपर बादशाहने कुछ बनावटी व्यग्रता-सी प्रकट करते हुए कहा—'मल्लिक महाशय, तुम्हें क्या बीमारी हो गयी है?'

कुछ वैसे ही अन्यमनस्क-भावसे धीरे-धीरे सनातनजीने कहा—'वैसे ही श्रीमन्! कुछ तबीयत खराब-सी है। काम करनेमें बिल्कुल जी ही नहीं लगता।'

बादशाहने कहा—'कुछ भी तो बात होगी, मुझे ठीक-ठीक बताओ क्या रोग है, क्या बीमारी है और काममें चित्त न लगनेका कारण क्या है?'

उसी तरहसे उपेक्षाके भावसे सनातनजीने कहा—'नहीं कोई खास बात नहीं है। तबीयत ठीक नहीं है।'

अब बादशाह अपने रोषको नहीं रोक सका, उसने कड़ककर कहा—'राजकाजसे तुम्हारी यह लापरवाही ठीक नहीं। तुम जानते हो मैं तुम दोनों भाइयोंपर कितना अधिक विश्वास रखता हूँ, किन्तु देखता हूँ तुम दोनों ठीक समयपर ही मुझे धोखा देना चाहते हो। इसे विश्वासघात न कहूँ, तो और क्या कहूँ। तुम्हारा भाई यहाँसे भागकर फतेहाबाद चला गया। तुम बीमार न होनेपर भी बीमारीका बहाना बनाये घरमें बैठे हो। इस धोखेबाजीके अन्दर कौन-सी बात छिपी है, मुझे सच-सच बताओ। तुम्हारी लापरवाहीके कारण मेरा सभी राजकाज चौपट हो गया है। तुम्हें राजकाज करना होगा और अभी चलकर अपना काम सँभालना होगा।'

अत्यन्त ही नम्रताके साथ किन्तु निर्भीकभावसे सनातनजीने कहा—'श्रीमन्! आप जो चाहें सो समझें। मैं सदा आपके हितकी बात सोचता रहा हूँ और अब भी आपका शुभचिन्तक हूँ, किन्तु अब मुझसे राजकाज नहीं हो सकता।'

लाल-लाल आँखें निकालते हुए बादशाहने कहा—'क्यों नहीं हो सकता?'

उसी प्रकार नम्रताके साथ सनातनने उत्तर दिया—'इसलिये कि श्रीमन्! अब मेरा मन मेरे वशमें नहीं है, वह वृन्दावनकी ओर चला गया है।'

बादशाहने झुँझलाकर कहा—'मैं यह सब सुनना नहीं चाहता। तुम एक बात बताओ। राजकाज सम्हालते हो या नहीं?'

दृढ़ताके साथ सनातनजीने कहा—'मैंने श्रीमान्‌से पहले ही निवेदन कर दिया है कि मैं अब किसी प्रकार राजकाज न कर सकूँगा।'

सनातनजीकी इस दृढ़ताको देखकर बादशाह हुसैनशाह एकदम चकित हो गया। जो आजतक सदा हाथ बाँधे हुए मेरी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहता था, वही मेरा वेतनभोगी नौकर मेरे सामने इस प्रकार निर्भीक होकर उत्तर दे रहा है। इस बातसे उसे क्रोध आया, किन्तु असमयमें क्रोध प्रकट करना उचित न समझकर बादशाहने कुछ बनावटी प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—'अच्छा, जाने दो तुम यहाँका काम मत करो। मेरे साथ लड़ाई करने उड़ीसा-देशको तो चलोगे?'

सनातनजीने फिर उसी तरह कहा—'श्रीमन्! मुझे किसी खास कामसे चिढ़ नहीं है। मुझे तो संसारी जितने काम हैं, सभी काटनेको दौड़ते हैं। मैं कुछ भी न कर सकूँगा। आप मुझसे अब किसी प्रकारके कामकी आशा न रखें।'

अपने भीषण क्रोधको दबाते हुए और रोषसे ओठ चबाते हुए बादशाहने कहा—'शाकिर मल्लिक ! तुम होशमें होकर बातें कर रहे हो या नशेमें ? तुम्हें पता है, तुम किससे बातें कर रहे हो ? अपनी बातपर फिरसे सोच लो और खूब समझ-सोचकर उत्तर दो।'

सनातनजीने कहा—'श्रीमन् ! मैंने कोई नशा नहीं किया है। मैं खूब होशमें होकर बातें कर रहा हूँ। मुझे पता है कि गौड़-देशके एकमात्र स्वतन्त्र शासक और बंगालके अधीश्वरसे मैं बातें कर रहा हूँ, जिनकी छोटी-सी आज्ञासे देश-के-देश नष्ट-भ्रष्ट और बरबाद हो सकते हैं। जिनकी आज्ञा निष्फल नहीं हो सकती। श्रीमन् ! मैंने खूब सोच लिया है और खूब सोचकर ही उत्तर दे रहा हूँ कि मुझसे अब राजकाज किसी भी हालतमें न हो सकेगा !'

क्रोधके स्वरमें बादशाहने कहा—'तुम जानते हो, तुम्हारी इस धृष्टताका फल क्या होगा ?'

सिर झुकाकर सनातनजीने कहा—'मैं खूब जानता हूँ, यह सिर धड़से अलग हो जायगा, श्रीमन् ! इसकी मुझे तनिक भी परवा नहीं।'

बादशाह आगे कुछ न कह सका। उसने उसी समय क्रोधमें भरकर कहा—'कोई है !' फौरन दो सेवक प्रणाम करके बादशाहके सम्मुख खड़े हो गये। बादशाहने कहा—'राजके प्रधान कर्मचारीसे कहकर इसे अभी जेलखाने पहुँचाओ।' राजाज्ञा क्षणभरमें ही पालन की गयी। सनातनजी उसी समय राजबन्दी बनाकर कारावासमें भेजे गये। इधर बादशाह ऐसी आज्ञा देकर उड़ीसा-प्रान्तमें युद्ध करनेके लिये चला गया।

अब दूसरे भाई रूपजीकी बात सुनिये। अपने भाईके राजबन्दी होनेका समाचार सुननेके पूर्व ही उन्होंने प्रभुकी खोजके लिये दो नौकर पुरी भेजे थे। उन्होंने आकर समाचार दिया कि प्रभु तो वनके पथसे श्रीवृन्दावनकी यात्रा करने चले गये हैं। प्रभुके वृन्दावन-गमनका समाचार सुनकर रूप अपने छोटे भाई अनूप (श्रीवल्लभ) को साथ लेकर प्रभुकी खोजमें वृन्दावनकी ओर चल पड़े। चलते समय वे अपने भाई सनातनके पास एक पत्र इस आशयका भेज गये कि 'हम श्रीचैतन्यकी खोजमें वृन्दावन जा रहे हैं। हमारा मनमधुप चैतन्य-चरणारविन्दोंका मकरन्द पान करनेके निमित्त उन्मत्त-सा हो रहा है। अब हम अपनेको क्षणभर भी यहाँ नहीं रख सकते। श्रीचैतन्य-चरण जहाँ भी होंगे वहीं जाकर हम उनके शरणापन्न होंगे। आप किसी बातकी चिन्ता न करें, मङ्गलमय श्रीचैतन्य आपका भला करेंगे। वे आपको शीघ्र ही इस कारागारके बन्धनसे ही नहीं, संसारी-बन्धनसे भी उन्मुक्त करेंगे। अमुक मोदीकी दूकानपर आपके निमित्त मैं दस हजार रुपये जमा कर चला हूँ। यदि कारावासमुक्तिमें उनका कुछ उपयोग हो सके, तो कीजिये और शीघ्र ही कारागारसे मुक्त होकर व्रजमें आकर श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शन कीजिये। यह पत्र मैं गुप्त रीतिसे आपके पास भेज रहा हूँ। मंगलमय भगवान् आपका भला करें।' गुप्त रीतिसे यह पत्र सनातनजीके पास पहुँचा। पत्रको पढ़कर उनका चित्त भी श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनोंके लिये तड़फड़ाने लगा। वे किसी-न-किसी प्रकार जेलसे उन्मुक्त होनेका उपाय सोचने लगे। उधर रूपजी अपने भाई अनूपजीके साथ प्रभुकी खोज करते हुए काशी होकर प्रयाग पहुँचे। प्रयागमें प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के घाटसे पार होकर वे वर्तमान दारागञ्ज-के समीप पहुँचे। वहीं उन्हें अनेक आदमियोंसे घिरे हुए महाप्रभु चैतन्य-देवजीके दर्शन हुए। प्रभु प्रेममें विभोर हुए भक्तोंके साथ सङ्कीर्तन-नृत्य

करते हुए विन्दुमाधवजीके दर्शनके लिये जा रहे थे। ये दोनों भाई भी उस भीड़के साथ-ही-साथ हो लिये, महाप्रभुको जो भी नृत्य करते हुए देखता वही उनके साथ चल पड़ता। इस प्रकार विन्दुमाधवजीके दर्शन करके प्रभु लौटे। एक दक्षिणी ब्राह्मणने उस दिन महाप्रभुका निमन्त्रण किया था। महाप्रभु उसके यहाँ भिक्षा करने गये। भीड़ हट जानेपर ये दोनों भाई प्रभुके पीछे उस ब्राह्मणके घरमें घुस गये। ब्राह्मणने अपने घरके बाहर छोटे-से उद्यानमें पत्थरकी चौकीपर प्रभुके लिये आसन विछाया था। प्रभु उसपर बैठे हुए चारों ओर वाटिकाकी शोभाको निहार रहे थे कि उसी समय रूप और अनूप इन दोनों भाइयोंने प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। रूपको अपने पैरोंमें प्रणत देखकर प्रभु जल्दीसे आसनसे उठकर खड़े हो गये, और उन्हें बलपूर्वक उठाकर छातीसे चिपटाते हुए उनके सिरपर अपने कोमल कर फिराने लगे।

महाप्रभुके बैठ जानेपर दोनों भाई प्रभुके पैरोंको पकड़े हुए बैठे। प्रभुने अनूपका परिचय पूछा और सनातनजीके समाचार जानने चाहे। श्रीरूपजीने सभी वृत्तान्त सुनाकर कहा—'प्रभो! वे श्रीचरणोंके दर्शनके लिये कारावासकी काली कोठरीमें पड़े हुए तड़प रहे होंगे।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'अब वे कारावासमें कहाँ, अब तो वे वहाँसे छूट गये होंगे। भगवान् करेंगे तो शीघ्र ही तुम दोनों भाइयोंकी भेंट होगी। अब तुम कुछ काल यहीं मेरे पास रहो, यह कहकर प्रभुने अपने पास ही इन दोनों भाइयोंको रहनेके लिये स्थान दे दिया। बलभद्र भट्टाचार्यने इन दोनों भाइयोंको भोजन कराया और प्रभुका प्रसादी-अन्न भी इन्हें दिया। इस प्रकार ये दोनों ही भाई आनन्दके साथ प्रभुकी सेवामें रहने लगे।

महाप्रभु वल्लभाचार्य

श्रीमदाचार्यचरणं पुष्टिमार्गप्रचारकम्।
वल्लभं गोपवंशाख्यं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥ *
(प्र० द० प्र०)

हम पहले ही बता चुके हैं कि पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायके प्रवर्तक भगवान् श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु चैतन्यदेवके समकालीन ही थे। इन दोनों महापुरुषोंके जीवनमें बहुत अधिक साम्य है। दोनों ही भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। दोनों ही लोक-शिक्षक आचार्य थे। दोनों ही भक्तिमार्गके प्रवर्तक थे और दोनों ही अपने-अपने सम्प्रदायोंमें भगवान्‌के अवतार माने जाते हैं। दोनों ही महाप्रभु कहलाते थे। दोनोंका ही जन्म केवल छः वर्षके आगे-पीछे हुआ। भगवान् वल्लभाचार्य महाप्रभु चैतन्यदेवसे छः वर्ष पूर्व ही इस अवनिपर अवतरित हुए और दो-ढाई वर्ष पहले इस संसारसे तिरोभावको प्राप्त हुए। दोनोंके ही जीवनमें त्याग, वैराग्य और प्रेमके भाव पूर्णरीत्या विकसित हुए थे। दोनोंने ही अपने प्रचण्ड प्रेमके प्रभावसे प्रेमामृतरूपी भक्ति-रससे पृथ्वीको परिप्लावित बना दिया। दोनों ही नम्र थे, दोनों ही रसिक थे, दोनों ही गुणग्राही, शान्त, अदोषदर्शी और प्रेमोपासक थे। इन दोनों महापुरुषोंका दो बार परस्परमें समागम भी हुआ था। उसका निष्पक्ष विवरण प्राप्त नहीं होता।

---

* जो पुष्टिमार्गके प्रचारक हैं, जिन्होंने अपनेको गोपवंशका कहकर प्रकट किया, उन्हीं श्रीवल्लभाचार्यको हम बार-बार प्रणाम करते हैं।

फिर भी इतना जाना जाता है कि ये एक-दूसरेसे अत्यन्त ही स्नेह करते थे और दोनोंमें बहुत अधिक प्रगाढ़ता रही होगी। क्यों न रहे, जो संसारको अपने प्रेमामृतसे अमर बना सकते हैं, वे आपसमें सङ्कुचित या विद्वेषपूर्ण भाव रख ही कैसे सकते हैं ! इसलिये प्रसङ्गवश यहाँ बहुत ही संक्षेपमें भगवान् वल्लभाचार्यका परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। जिसके जीवनमें त्याग, वैराग्य और प्रेमरूपी चैतन्यता है, वही चैतन्य-चरितावलीका पात्र है, इसलिये श्रीवल्लभाचार्यका चरित्र यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा और उनके चारु चरित्रसे पाठकोंको शान्ति तथा आनन्दकी ही प्राप्ति होगी।

महाप्रभु वल्लभाचार्यका जन्म भारद्वाजगोत्रीय तैत्तिरीय शाखा-वाले यजुर्वेदीय शुद्ध और कुलीन ब्राह्मण-वंशमें हुआ। इनके पूर्वज भट्ट उपाधिधारी दक्षिणी ब्राह्मण थे। उनका कुल वेल्नाट नामसे प्रसिद्ध था। इनके पिताका नाम श्रीलक्ष्मण भट्ट और माताका नाम यल्लमागारू था। ये लोग आन्ध्रदेशमें व्योमस्थम्भ-पर्वतके पास कृष्णा-नदीके दक्षिण तटपर काकरवाड (काकुम्भकर) नामक नगरमें रहते थे। पीछेसे इनके पूज्य पिता अग्रहार नामक ग्राममें आकर रहने लगे।

श्रीलक्ष्मण भट्ट एक बार सपत्नीक तीर्थ-यात्राके निमित्त काशी आये और वहीं हनुमान्-घाटके ऊपर एक घर लेकर रहने लगे। उस समय काशीमें बड़ा विद्रोह था, इसी कारण भट्ट महोदय अपनी पत्नीके सहित स्वदेशके लिये चले। इनकी पत्नी गर्भवती थी। रास्तेमें चम्पारण्यके समीप चोडानगर (चतुर्भद्रपुर) में महाप्रभुका प्रादुर्भाव हुआ। पिताने चम्पारणसे सभी सामग्री लाकर पुत्रके यथोचित जातकर्म आदि संस्कार किये और फिर काशीमें ही आकर रहने लगे। महाप्रभुका जन्म वैशाख कृष्णपक्ष ११ संवत् १५३५ (शाके १४००) में रात्रिके

समय हुआ था। पाँच वर्षकी अवस्थामें पिताने इनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया। तभीसे ये वेदशास्त्रोंकी शिक्षा पाने लगे। जब ये ग्यारह वर्षके थे तभी इनके पूज्य पिता परलोकवासी हो गये। तब ये अपनी माता तथा कई-एक शिष्योंको साथ लेकर स्वदेशको गये। इस छोटी-सी अवस्थामें ही इन्होंने विद्यानगरकी राजसभामें पण्डितोंसे शास्त्रार्थ करके विजय-लाभ किया और आचार्य-पदवी प्राप्त की। विद्यानगरके महाराजकी ओरसे आपका अत्यधिक सम्मान किया गया। इससे इनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। फिर आपने अपने बहुत-से अनुयायियोंके साथ विद्यानगरसे कन्याकुमारी, पण्ढरपुर आदि स्थानोंकी यात्रा की। पण्ढरपुरसे आप नासिक, त्र्यम्बक, नर्मदातट, ओंकारेश्वर, माहिष्मती, उज्जैनी, सिद्धवट, चैंचपुर, दतिया, ग्वालियर, धौलपुर आदि स्थानोंमें अपने प्रतिपक्षियोंको परास्त करते हुए और राजसभाओंमें सम्मान प्राप्त करते हुए मथुरा होकर गोकुल पधारे। वहीं आपको भक्तिमार्गको प्रकट करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त हुई और स्वप्नमें भगवान्‌ने इन्हें एक गद्यात्मक मन्त्रका उपदेश किया, जिसके द्वारा जीवोंका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध किया जाता है। यहींपर कुछ शिष्य आपके शरणापन्न हुए और आप यहीं रहकर शास्त्र-प्रणयन करते रहे।

इसके अनन्तर आपने सम्पूर्ण ब्रजके तीर्थोंकी यात्रा की। फिर आप भक्तिका प्रचार करनेके निमित्त दक्षिणकी ओर गये और वहाँ गुजरात, काठियावाड़ तथा सिन्धके अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरोंमें आपने जाकर पण्डितोंसे शास्त्रार्थ किया और भक्तिमार्गका जोरोंसे प्रतिपादन किया। वहाँ इनके पाण्डित्यकी सर्वत्र ख्याति हो गयी। और हजारों सुनार, भाटिया तथा धनी-मानी पुरुष इनके शिष्य हो गये। भेंट-पूजा भी यथेष्ट आने लगी और गुजरात तथा काठियावाड़के भावुक लोगोंने इनका बड़ा ही भारी सत्कार किया। दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके

आपने उत्तर और पूर्व दिशाके तीर्थोंकी यात्रा की। कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, ऋषीकेश, टिहरी, गङ्गोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ आदि उत्तरके तीर्थोंमें होते हुए फिर लौटकर हरिद्वार आ गये और आप नैमिपारण्य आदि तीर्थोंमें दर्शन करते हुए जगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये गये। जगन्नाथजीसे दक्षिणके पथसे महेन्द्री-पर्वतपर परशुरामजीके दर्शन करते हुए फिर अपने ग्राम अग्रहारमें आ गये।

कुछ काल अग्रहारमें रहकर आचार्यने दूसरी बार भारत-यात्रा करनेका विचार किया। इसलिये आप मङ्गलप्रस्थ, विद्यानगर, लोहगढ़ होते हुए पण्ढरपुर आये। पण्ढरपुरमें आकर इन्होंने भगवान् विट्ठल-नाथजीके दर्शन किये। अबतक ये दण्ड, मेखला, जटा, कृष्णाजिन आदि सभी ब्रह्मचारियोंके चिह्नोंको धारण करते थे। और ब्रह्मचारी-वेशमें रहते थे। यहींपर भगवान्ने इन्हें विवाह करनेकी आज्ञा दी। इन्होंने भगवान्की आज्ञाको स्वीकार कर लिया। यहाँसे फिर आप गुजरात-काठियावाड़की यात्रा करते हुए और अपने शिष्य-सेवकोंको भक्तिमार्गका उपदेश करते हुए पुष्कर होते हुए व्रजमें पधारे। गोवर्धनमें गोवर्धननाथजी (गोपालजी) का प्राकट्य हुआ था। वहाँ उनकी सेवा-पूजामें इन्होंने योग दिया और श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजीको ही वहाँकी सेवाका सम्पूर्ण भार सौंपा। श्रीनाथजीकी प्रेरणासे ठाकुर पूरणमलने १५५६ में श्रीगोवर्धननाथजीका मन्दिर बनवाना आरम्भ किया। व्रज-मण्डलसे चलकर फिर आपने उत्तरके तीर्थोंकी यात्रा की और दूसरी बार फिर जगन्नाथजीकी यात्रा करके काशीजीमें आकर रहने लगे।

यहाँ आपने भगवत्-इच्छा समझकर अपने सजातीय देवभट्ट नामक एक दक्षिणी ब्राह्मणकी सर्वगुणसम्पन्ना लक्ष्मीदेवी नामकी कन्याके साथ विवाह किया। कुछ काल काशीमें निवास करके आप

फिर उसी प्रकार भ्रमण करते हुए गोकुलमें पधारे। तीसरी बार फिर आपने गुजरात-काठियावाड़ आदि देशोंमें भ्रमण किया। और बदरी-नारायणके तीसरी बार दर्शन करके गोकुलमें आ गये। गोकुलसे यमुना-जीके किनारे-किनारे आगरा होते हुए आप प्रयागराज पहुँचे और सङ्गमके उस पार यमुनाजीके तटपर अरैल नामक ग्राममें घर बनाकर रहने लगे। थोड़े दिन अरैलमें निवास करके आप काशी पधारे और वहाँसे आप चरणाद्रि (चुनार) में जाकर कुछ काल रहे। आचार्यके पास अब द्रव्यकी कमी नहीं रहती थी। हजारों धनी-मानी, सेठ-साहूकार इनके शिष्य हो गये थे। इसलिये ये धनको धार्मिक कार्योंमें खूब जी खोलकर खर्च करते थे। काशीमें आपने अपनी माताकी आज्ञासे तीस हजार ब्राह्मणोंको श्रद्धापूर्वक भोजन कराया था।

काशीसे फिर आपने प्रयाग होते हुए अरैलमें कुछ काल रहकर व्रजकी यात्रा की। इसी यात्रामें आगराके समीप गौघाटपर इनकी सूरदासजीसे भेंट हुई और वहीं वे इनके शरणापन्न हुए। सूरदासजीको साथ लेकर आप गोवर्धन पधारे और वहाँ गोवर्धननाथजीके नये मन्दिरकी प्रतिष्ठा करायी। उसमें बड़े-बड़े विद्वान् और साधु-महात्मा एकत्रित हुए थे। वहाँसे फिर आप अरैलमें ही आकर रहने लगे और वहीं इनके प्रथम पुत्र गो० श्रीगोपीनाथजीका जन्म हुआ। तभी आपने प्रयागमें अपने एक शिष्य पुरुषोत्तमदासको ज्योतिष्टोम-यज्ञ करनेकी आज्ञा की जो बड़ी धूमधामके साथ निर्विघ्न समाप्त हो गया।

इसके अनन्तर आप चुनारके राजाकी प्रार्थनासे वहाँ जाकर रहने लगे। वहीं इनके द्वितीय पुत्र गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराजका जन्म हुआ। अन्तमें आपने काशीमें भागवतकी रीतिसे संन्यास धारण किया। घर-बार छोड़कर और शिखा, सूत्र, दण्ड, कमण्डलुके सहित

काषायवस्त्र पहनकर ये भिक्षाके ऊपर निर्वाह करने लगे। उस समय इनका वैराग्य अपूर्व था। इतनी भारी सम्पत्ति, इतनी अधिक प्रतिष्ठा, स्त्री, बच्चे तथा शिष्य-सेवकोंसे एकदम पृथक् होकर आप निरन्तर भगवत्-अर्चा-पूजा और नाम-संकीर्तनमें ही लगे रहते थे। इस प्रकार अपने परम त्यागमय जीवनके द्वारा अपने शिष्य-प्रशिष्य तथा वंशजोंके लिये त्यागका आदर्श बताते हुए संवत् १५८७ के आषाढ़ मासकी शुक्ला तृतीयाके दिन आप इस असार संसारसे विदा होकर वैकुण्ठवासी बन गये।

महाप्रभु वल्लभाचार्य, विशेषकर गोकुल, अरैल, चुनार और काशीमें ही रहते थे। इन चारों ही स्थानोंमें इनकी बैठकें अभीतक बनी हुई हैं। और वे 'महाप्रभुकी बैठक' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके वंशज गोकुलिया गोसाईं कहे जाते हैं। भारतवर्षमें इसी सम्प्रदायके आचार्य सबसे अधिक धनी और वैभवशाली बताये जाते हैं। बड़े-बड़े महाजन धनी-सेठ इस कुलके सेवक तथा शिष्य हैं। आचार्यके द्वितीय पुत्र गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराजको इस सम्प्रदायके लोग साक्षात् श्रीकृष्णका अवतार मानते हैं। उन्होंने इस सम्प्रदायका खूब प्रचार किया। ये बड़े ही तेजस्वी, कर्मपरायण तथा धर्ममें आस्था रखनेवाले आचार्य थे। इनके गिरधरलालजी, गोविन्दलालजी, बालकृष्णजी, गोकुलेशजी, रघुनाथजी, यदुनाथजी और घनश्यामलालजी ये सात पुत्र हुए। इनकी सात गद्दियाँ अभीतक विद्यमान हैं। पीछे इनके वंशज बहुत बढ़ गये जो बम्बई, काशी, मथुरा, गोकुल, नाथद्वारा आदि भिन्न-भिन्न स्थानोंमें अभीतक विद्यमान हैं। इनके शिष्य-सेवक गोस्वामी-बालकोंको अभी-तक भगवत्-बुद्धिसे मानते तथा पूजते हैं।

वल्लभ-सम्प्रदाय विशेषकर खण्डनपरक सम्प्रदाय नहीं है। दार्शनिक सिद्धान्तोंकी बात छोड़कर इस सम्प्रदायमें जहाँतक हमें मालूम

६, किसी सम्प्रदायकी पूजा-पद्धतिका खण्डन नहीं किया गया है। वल्लभ-सम्प्रदायमें वैदिक कर्मोंका अन्य सम्प्रदायोंकी तरह खण्डन नहीं है, किन्तु उसमें श्रीकृष्ण-सेवाको ही प्रधानता दी गयी है। ब्रह्म-सम्बन्ध-संस्कार इनके यहाँ मुख्य माना जाता है। गुरु शिष्यके कानमें मन्त्र देता है, उस मन्त्रका तात्पर्य यह है—'हमारे रक्षक श्रीकृष्ण हैं, उनसे हमारा हजारों वर्षोंसे वियोग हुआ है, इसी कारण त्रिविध तापोंके वशीभूत होकर हमारा सम्पूर्ण आनन्द तिरोहित हो गया है, ऐसी स्थितिवाला मैं श्रीगोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्णके निमित्त देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और अन्तःकरणके धर्म, स्त्री, गृह, पुत्र, कुटुम्ब, वित्त और आत्मा सबको समर्पण करता हूँ, हे कृष्ण! मैं आपका दास हूँ।' इस मन्त्रसे जीवात्माका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होना मानते हैं। ब्रह्म-सम्बन्ध हो जानेपर कोई भी स्त्री-पुरुष भगवान्को बिना अर्पण किये न तो अन्न-जल ग्रहण कर सकता है और न वस्त्र, आभूषण, वाहन, सवारी, धन, स्त्री आदिका उपभोग कर सकता है। सबको कृष्णार्पणपूर्वक भगवत्-प्रसादी समझकर उपभोग करो, यही इसका तात्पर्य है। कितना ऊँचा भाव है, वास्तवमें पुरुष इस धर्मका सच्चे हृदयसे पालन कर सके तो उसका घरमें रहते हुए भी कल्याण हो सकता है।

भगवान् वल्लभाचार्यने अपने सिद्धान्तको समझानेके लिये स्वयं अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, तथा पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा और श्रीमद्भागवतपर सुन्दर भाष्य लिखे हैं। श्रीमद् आचार्य-चरणोंने अनेक ग्रन्थोंमें बड़ी ही युक्तिके साथ भक्ति-तत्त्व समझाया है। अपने सभी ग्रन्थोंका सार पाँच श्लोकोंमें वर्णन किया है। ये पाँच श्लोक ही उनके यथार्थ सिद्धान्तको स्पष्ट करते हैं। इन पाँच श्लोकोंसे पाठकोंको पता चल जायगा कि जो लोग पुष्टि-सम्प्रदायको प्रवृत्तिमार्ग बताते हैं और कहते हैं कि पुष्टि-सम्प्रदायमें सर्वकर्मत्याग

निषिद्ध बताया गया है, यह उनकी भारी भूल है। भगवान् वल्लभाचार्य दो मार्ग बताते हैं—एक निवृत्तिमार्ग दूसरा प्रवृत्तिमार्ग। निवृत्तिमार्गको वे सर्वश्रेष्ठ बताते हैं किन्तु निवृत्तिमार्गके अधिकारी विरले ही होते हैं, इसलिये जब कोई उसका अनुसरण न कर सके तो वह कृष्णार्पणबुद्धिसे अपने वर्णाश्रमके अनुसार श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही कर्म करता रहे। ब्रह्मचारीसे गृहस्थी होना, गृहस्थीसे वानप्रस्थ और वानप्रस्थसे संन्यास धारण करना—इसीका नाम प्रवृत्तिमार्ग है। लोग भूलसे सभी संन्यासियोंको निवृत्तिमार्गका ही समझ बैठते हैं। निवृत्तिमार्गका संन्यासी तो वह है कि ज्ञान होते ही चाहे वह कहीं भी कैसी भी दशामें हो, वहींसे सर्वस्व त्याग करके और विधि-निषेधके झंझटोंको छोड़कर अवधूत परमहंस बन जाय। उसकी चेष्टा बालककी-सी, जडकी-सी अथवा पागलकी-सी हो। क्रमशः ज्ञानपूर्वक एकके बाद एक आश्रममें प्रवेश करते हुए संन्यास धारण करना यह प्रवृत्तिमार्ग है। भगवान् वल्लभाचार्यने इसी प्रवृत्तिमार्गको अपने जीवनमें प्रत्यक्ष दिखाकर लोगोंको शिक्षा दी थी। वे निवृत्तिमार्गकी सर्वश्रेष्ठताको अस्वीकार नहीं करते, किन्तु उसके अधिकारी बहुत कम बताते हैं। लीजिये उनके ही शब्दोंमें सुनिये। नीचे हम उनके सारभूत सिद्धान्तके पाँच श्लोकोंको ही उद्धृत किये देते हैं। पुष्टिसम्प्रदायवाले इन्हीं पाँच श्लोकोंको भक्तिप्रकरणका सन्दोहनरूप समझते हैं। आचार्य आज्ञा करते हैं—

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः॥

(सर्वोत्तम सिद्धान्त तो यह है कि) घरका पूर्ण रीतिसे परित्याग ही कर देना चाहिये। (किन्तु पूर्वजन्मके संस्कारोंसे सभी गृह त्यागनेमें समर्थ नहीं हो सकते इसलिये) यदि घरको पूर्णरीत्या त्याग करनेकी

सामर्थ्य न हो तो घरमें रहकर सब कार्य श्रीकृष्णके ही निमित्त—उनके प्रीत्यर्थ ही करे। (ऐसा करनेपर कर्म करनेसे जो पाप होता है वह पाप न होगा) क्योंकि श्रीकृष्ण सभी प्रकारके अनर्थोंको मोचन करनेवाले हैं।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम्॥

(सर्वोत्तम सिद्धान्त तो यह है कि) संग किसीका करना ही न चाहिये। सभी प्रकारके संगोंका एकदम परित्याग कर देना चाहिये। (किन्तु अनेक जन्मोंसे जीवका समाजमें मिलकर रहते आनेका स्वभाव पड़ गया है, इसलिये) सब प्रकारके संगोंको परित्याग करनेमें समर्थ न हो सके तो सज्जन तथा सन्त-महात्माओंका ही संग करना चाहिये। क्योंकि संगसे जो काम उत्पन्न हो जाता है उसकी ओषधि सन्त ही हैं।

भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाः।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्॥
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतः विष्णुपराङ्मुखाः।

(अब बताते हैं जो गृहस्थी बन चुका है उसे कैसा व्यवहार करना चाहिये। उसके लिये बताते हैं) यदि स्त्री अपने मनके माफिक भगवद्भक्तिपरायणा हो तो उससे भी भगवान्की सेवा-पूजा आदि करवावे। यदि वह इस ओरसे उदासीन हो (और आज्ञा करनेपर ही सेवा करनेको राजी हो तो) उससे न कराकर स्वयं करे। यदि वह भगवत्-सेवाके विरुद्ध हो, तो एकदम घरको त्यागकर एकान्तमें ही जाकर भगवत्-पूजा-अर्चा करनी चाहिये। (जाके प्रिय न राम बैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरीसम यद्यपि परम सनेही॥) जो विष्णुपराङ्मुख हों उनके

त्यागनेमें किसी भी प्रकारका दूषण नहीं है। (संसारी भोगोंकी इच्छासे तो किसीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना ही न चाहिये।)

अनुकूलस्य सङ्कल्पः प्रतिकूलविसर्जनम्॥
रक्षिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं यथा।
आत्मनैवेद्यकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

भगवत्-सेवामें जो अनुकूल पड़े उसीका चिन्तन करना और जो भगवत्-सेवामें विघातक हों उनका सर्वथा त्याग करना। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रीको इस बातका पूर्ण विश्वास होता है कि जिसने मेरा एक बार अग्निके सम्मुख पाणिग्रहण किया है वह मेरी अवश्य ही रक्षा करेगा, उसी प्रकार श्रीकृष्णपर भरोसा रखना कि वे हमारी अवश्य ही रक्षा करेंगे। भगवान्‌को आत्मनिवेदन करनेपर उनके प्रति भारी दीनता रखना यही छः प्रकारकी शरणागति है। फिरसे स्पष्ट समझिये—

१—(सर्वोत्तम) गृहत्याग, असमर्थावस्थामें कृष्णप्रीत्यर्थ घरमें ही रहकर भगवत्-सेवारूपी कर्मोंका करना।

२—सर्वसंगपरित्याग, असमर्थ होनेपर साधु-संग करना।

३—भगवत्-सेवाके अनुकूल भाव और पदार्थोंका ग्रहण, प्रतिकूलोंका परित्याग।

४—यदि परिवार अनुकूल हो तो उसमें रहकर, नहीं तो उसका परित्याग करके एकान्तभावसे भगवत्-सेवा-पूजा करना।

५—प्रभुमें दृढ़ विश्वास।

६—आत्मनिवेदनपूर्वक गुण और दीनता धारण करना।

कितने उच्च और सर्वसम्मत सिद्धान्त हैं। इतना स्पष्ट करनेपर भी कोई शंका करे और अपनी बातको ही पुष्ट करके त्यागकी आड़में उम्रभर विषयोंको भोगनेका समर्थन करे तो उसके लिये क्या उपाय है। बस, भगवान्‌के शब्दोंमें हम यही कह सकते हैं 'मम माया दुरत्यया' मेरी माया बड़ी कठिन है।

इस प्रकार श्रीचैतन्यके समकालीन ही होकर गोकुलमें रहकर भगवान् वल्लभाचार्यने बालकृष्ण भगवान्‌की पूजा-पद्धतिका प्रचार किया। इनके बालकृष्ण भगवान्‌के प्रति बड़े ही अलौकिक व्यवहार होते हैं। इनकी मूर्तियाँ बहुत ही छोटी होती हैं और दिनमें अनेकों बार भोग लगता है। जिस प्रकार उजाड़ वृन्दावनको नगर बनानेका श्रेय गौरभक्तोंको प्राप्त है उसी प्रकार उजाड़ हुई गोकुल-भूमिको फिरसे बसानेका श्रेय गोकुलिया गोसाइयोंको है। महाप्रभु वल्लभाचार्यने अरैलमें रहकर कई ग्रन्थ बनाये थे। जिन दिनों महाप्रभु गौराङ्गदेव रूप-अनूप आदिके सहित प्रयागमें ठहरे हुए थे तब भगवान् वल्लभाचार्य अरैलमें ही विराजमान थे। महाप्रभुके भक्ति-भावकी प्रशंसा सुनकर वे उनसे मिलने स्वयं आये थे, इसका वर्णन पाठक अगले अध्यायमें पढ़ेंगे।

महाप्रभु वल्लभाचार्य और महाप्रभु गौराङ्गदेव

श्रीगौरवल्लभभगवत्परायणौ
महाप्रभू भक्तप्रियौ सुनायकौ।
भक्तिपरौ कृष्णकथातिगायकौ
भक्तिविहीनस्य प्रसीदतां मे ॥*

(प्र० द० ब्र०)

महाप्रभु गौराङ्गदेव अपने सुमधुर संकीर्तन और उद्दण्ड नृत्यसे प्रयागवासी नर-नारियोंको पावन और प्रसन्न बनाते हुए कुछ कालतक त्रिवेणी-तटके समीप ही रहे। वहाँ जब अधिक भीड़-भाड़ होने लगी, तब आप एकान्तमें रहनेकी इच्छासे दारागंजके समीप दशाश्वमेघघाटके पास आकर रहने लगे। प्रभुकी प्रसिद्धि प्रयागके प्रायः सभी प्रतिष्ठित पण्डितों और धनी-मानी सज्जनोंके कानोंतक पहुँच गयी थी, अतः बहुत-से लोग प्रभुके दर्शन और संकीर्तन देखनेकी इच्छासे उनके समीप आने लगे। भगवान् वल्लभाचार्यने भी महाप्रभुकी प्रशंसा सुनी कि एक गौड़देशीय युवक संन्यासी अपने भक्तिभावमय संकीर्तन और नृत्यसे दर्शकोंके मनको चुम्बककी तरह अपनी ओर खींच लेते हैं, तब उनकी भी प्रभु-दर्शनोंकी इच्छा हुई। ऐसे कृष्ण-भक्त महापुरुषके दर्शनोंसे आचार्य अपनेको कब वञ्चित रखने लगे। अतः आप स्वयं ही कुछ शिष्योंके साथ प्रभुके दर्शनोंके लिये आये। आते ही उन्होंने संन्यासी समझकर महाप्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और

---

* जो दोनों ही भगवत्परायण हैं, दोनों ही अपने-अपने भक्तोंको अत्यन्त ही प्रिय हैं, दोनों श्रीआचार्य माने जाते हैं, दोनों ही भक्तिनिष्ठ हैं और दोनों ही कृष्णकथागान करनेमें अत्यन्त ही कुशल हैं—ऐसे महाप्रभु गौराङ्गदेव और महाप्रभु वल्लभाचार्य मुझ भक्तिविहीन मनुष्यके ऊपर प्रसन्न हों।

एक ओर चुपचाप बैठ गये। महाप्रभुने भी इनकी ख्याति पहलेसे ही सुन रखी थी। जब उन्हें पता चला कि ये ही आचार्यशिरोमणि श्रीमद्-वल्लभ भट्ट हैं, तब तो वे इनसे लिपट गये और प्रेमालिंगन करते हुए इनके पाण्डित्य तथा प्रभावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

तब महाप्रभुने अपने पासमें ही बैठे हुए रूप और अनूप-इन दोनों भाइयोंका आचार्यसे परिचय कराया। इन दोनों भाइयोंका परिचय पाते ही आचार्य इन्हें आलिंगन करनेके लिये इनकी ओर बढ़े। आचार्यको अपनी ओर आते देखकर ये दोनों भाई अत्यन्त ही संकोचके साथ पीछे हटते हुए दीनताके साथ कहने लगे—'भगवन्! आप हमें स्पर्श न कीजिये, हम ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न होनेपर भी यवनोंके संसर्गसे यवन प्रायः बन गये हैं। हमारे सभी आचार-व्यवहार अबतक यवनोंके-से ही रहे हैं। आप आचार्य हैं, कुलीन ब्राह्मण हैं, पण्डित हैं, लोकपूज्य हैं, हम आपके स्पर्श करनेयोग्य नहीं हैं'—इतना कहते-कहते ये दोनों भाई दूरसे ही लेटकर आचार्य-चरणोंमें प्रणाम करने लगे।

आचार्य इनकी इतनी भारी शालीनता, नम्रता और दीनताको देखकर आश्चर्यचकित हो गये और उसी समय श्रीमद्भागवतके 'अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्' इस श्लोकको गायन करते हुए जल्दीसे उनकी ओर दौड़े और उनका प्रेमपूर्वक आलिंगन करते हुए उनके भक्ति-भावकी प्रशंसा करने लगे।

इसके अनन्तर आचार्यने महाप्रभुसे अपने घर पधारकर भिक्षा करनेकी प्रार्थना की। प्रभुने अपने सभी साथियोंके सहित आचार्यका निमन्त्रण स्वीकार किया और वे अपने सभी भक्तोंको साथ लेकर आचार्यके वासस्थान अरैलके लिये चले। यमुनाजीको पार करके अरैलके लिये जाना होता है, इसलिये श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने उसी समय एक सुन्दर-सी नौका मँगायी और उसपर प्रभुके सभी भक्तोंके सहित प्रभुको बिठाकर

आप एक ओर बैठ गये। श्रीयमुनाके मेघवर्णके श्याम रंगवाले सुन्दर सलिलको देखते ही भावावेशमें आकर नौकापर ही प्रभु नृत्य करने लगे। नौका डगमग-डगमग करने लगी। सभी भक्त भयभीत हो उठे, किन्तु महाप्रभु अपने भावको संवरण करनेमें समर्थ न हो सके, वे नृत्य करते-करते प्रेममें उन्मत्त होकर एकदम बीच यमुनाजीकी तीक्ष्ण धारामें कूद पड़े। नावमें चारों ओरसे हाहाकार मच गया। महाप्रभुका सुवर्णके समान कान्तियुक्त शरीर यमुनाजीके नीले रंगके जलमें उछलता और डूबता बड़ा ही भला मालूम होने लगा। महाप्रभु यमुनाजीके प्रवाहमें बहने लगे। उसी समय मल्लाह जलमें कूद पड़े और प्रभुको जिस किसी भाँति पकड़कर नावपर चढ़ाया। सभी उस पार अरैल पहुँचे।

आचार्यके शिष्य, सेवक तथा ग्रामवासियोंने महाप्रभुका खूब ही स्वागत-सत्कार किया। आचार्यने एक सद्गृहस्थकी भाँति बड़ी ही श्रद्धाके साथ महाप्रभुकी अभ्यर्थना की और उन्हें प्रेमपूर्वक भिक्षा करायी। प्रभुके भिक्षा कर लेनेपर महाप्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद अन्य सभी साथी भक्तोंने पाया। सभीको भोजन करानेके अनन्तर आचार्य महाप्रभुके समीप पहुँचे और अतिथि-सेवा-महत्त्व जतानेके निमित्त वे प्रभुके पैर दबानेके लिये उद्यत हुए। महाप्रभुने अपने पैरोंको सिकोड़ते हुए अत्यन्त ही लज्जितभावसे कहा—'आचार्य! आप मुझे लज्जित क्यों कर रहे हैं? आप आचार्य हैं, पूज्य हैं, वयोवृद्ध हैं, मेरे पिताके समान हैं, आप मेरे साथ यह क्या अनर्थ कर रहे हैं?'

अत्यन्त ही सरलताके साथ आचार्यने कहा—'भगवन्! आप संन्यासी होनेके कारण आश्रमगुरु हैं, फिर मेरे सौभाग्यसे आप अतिथि होकर मेरी कुटियामें पधारे हैं। शास्त्रोंमें चाण्डाल अतिथिको भी नारायण समझकर पूजा करनेका विधान है, फिर आप तो साक्षात् नारायणके स्वरूप ही हैं। आपकी पादचर्यासे मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा।'

महाप्रभु वैसे ही बड़े सरल और संकोची स्वभावके थे, बड़ोंके सामने तो उनकी शीलता, लज्जा और सरलता अत्यन्त ही बढ़ जाती। अपनी स्वाभाविक नम्रतासे उन्होंने कहा—'आचार्यदेव! मैं आज आपके यहाँ भगवान्‌का प्रसाद पाकर अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुआ। मेरा परम सौभाग्य है जो यहाँ आकर आपके आतिथ्य ग्रहण करनेका सुअवसर मुझे प्राप्त हो सका। मुझे तो तीर्थोंका फल प्रत्यक्ष मिल गया। आप-जैसे महापुरुषोंके दर्शन ही साधारण लोगोंको दुर्लभ हैं, फिर जिसे आपकी कृपाकी प्राप्ति हो गयी है, उसके सौभाग्यका तो कहना ही क्या है!' इस प्रकार दोनों ही महापुरुष परस्पर एक दूसरेकी स्तुति कर रहे थे। अनन्तर महाप्रभुकी आज्ञासे आचार्य प्रसाद पाने चले गये। प्रसाद पाकर वे फिर प्रभुके पास आकर श्रीकृष्ण-कथा आदि करने लगे।

उसी समय तिरुहुतनिवासी रघुपति उपाध्याय नामक एक मैथिल पण्डित प्रभुकी प्रशंसा सुनकर वहीं अरैलमें उनके दर्शनोंके लिये आये। वे एक अच्छे कवि थे और साधु-महात्माओंके चरणोंमें अनुराग रखते थे। प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके वे एक ओर बैठ गये। प्रभुने उनका परिचय पाकर उनसे कहा—'सुना है आप बड़े प्रसिद्ध कवि हैं, असलमें वही काव्य काव्य कहा जा सकता है, जिसमें श्रीकृष्णकी लीला और गुणोंका वर्णन हो। आप कोई स्वरचित श्रीकृष्ण-सम्बन्धी श्लोक सुनाइये।'

दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए अत्यन्त ही दीनताके साथ उन उपाध्याय कविने कहा—'प्रभो! कविता मैं क्या जानूँ? वैसे ही इधर-उधरके पद जोड़ लेता हूँ। श्रीकृष्णकी लीला तो अवर्णनीय है, उनके सभी गुण अचिन्त्य हैं, उनका मैं मायामोहमें फँसा हुआ अज्ञानी जीव वर्णन ही क्या कर सकता हूँ? एक पद है, पता नहीं वह आपको पसन्द आवेगा या नहीं।'

प्रभुने जल्दीसे कहा—'आपके ऊपर श्रीकृष्णभगवान्‌की कृपा है। तभी तो इतनी भारी प्रतिभा होते हुए भी आप इतने विनम्र हैं। सुनाइये, आप जो भी कुछ सुनावेंगे वही अमृततुल्य होगा।'

प्रभुके कहनेपर महामहिम उपाध्याय कवि अपने कोकिलकूजित कमनीय कण्ठसे श्रीकृष्णके पिता नन्दबाबाकी स्तुति-सम्बन्धी इस प्रेममय पद्यका बड़े ही स्वरके सहित गायन करने लगे—

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥*

इस श्लोकको सुनते ही प्रभु लेटेसे एकदम उठकर बैठे हो गये और उपाध्यायका जोरोंसे आलिङ्गन करते हुए कहने लगे 'वाह वाह! धन्य है। अहा, नन्दजीके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है? कैसे कहा 'अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥' सचमुच बड़ा ही सुन्दर श्लोक है। कृपा करके और भी कोई ऐसा ही सुनाइये।'

कविकी कही हुई कविताकी आप यथोचित प्रशंसाभर कर दीजिये, उसीसे उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है। यथोचित प्रशंसा ही पद्यका सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार है। उपाध्याय उसी स्वरसे गाने लगे—

कम्प्रति कथयितुमीशे सम्प्रति को वा प्रतीतिमायातु।
गोपतितनयाकुञ्जे गोपवधूटीविटं ब्रह्म ॥†

---

* भवसागरसे भयभीत हुए बहुत-से पुरुष श्रुतिकी शरण लेते हैं, बहुत-से स्मृतियोंका आश्रय लेते और बहुत-से महाभारतके द्वारा ही उस भयसे बचना चाहते हैं। वे लोग ऐसा करते हैं तो करते रहें किन्तु मैं तो उन महाभाग्यवान् श्रीनन्दबाबाके ही चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, जिनकी दिवारी (बरामदे)में साक्षात् सनातन पूर्ण ब्रह्म ही नृत्य करते हैं।

† किसके सामने जाकर कहें? यदि किसीसे जाकर कहें भी तो इस समय कौन हमारी इस बातपर विश्वास करेगा कि तरणितनूजा-तटपर गोपाङ्गनाओंके प्रति लम्पट हुआ वही साक्षात् परब्रह्म क्रीड़ा कर रहा है।

पण्डितप्रवर श्रीरघुपति उपाध्यायके इन परम प्रेममय पदोंको सुनकर प्रभु प्रसन्नता प्रकट करते हुए उनसे कुछ प्रश्न पूछने लगे। प्रभुने कहा—'कविवर महोदय ! आपकी प्रखर प्रतिभाकी प्रशंसा करना बुद्धिके परेकी बात है। मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि आप सब रूपोंमें सर्वश्रेष्ठ रूप किसे समझते हैं ?'

उपाध्यायने कहा—'प्रभो ! साँवरेकी श्याम रंगकी सलोनी सूरतको ही मैं सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।'

प्रभुने फिर पूछा—'अच्छा, वासस्थानोंमें सर्वश्रेष्ठ वासस्थान किसे समझते हैं ?'

उपाध्यायने कहा—'मधुमयी मधुपुरीके माधुर्यके सम्मुख सभी पुरियाँ फीकी पड़ जाती हैं; अतः मधुपुरी ही सर्वश्रेष्ठ वासस्थान है।'

प्रभुने पूछा—'यह तो ठीक है, किन्तु भगवान्की बाल, पौगण्ड और किशोर—इन अवस्थाओंमेंसे किस अवस्थाको आप सर्वश्रेष्ठ समझते हैं ?'

उपाध्यायने गद्गद कण्ठसे कहा—'प्रभो ! यह भी कोई पूछनेकी बात है; उस कारेकी कमनीय कौमारावस्था ही तो परमध्येय और सर्वश्रेष्ठ है। उसीके ध्यानसे तो मन आनन्दसागरमें उन्मत्त होकर विहार कर सकता है।'

प्रभुने अत्यन्त ही प्रसन्न होकर पूछा—'बस, एक बात और बताइये। रसोंमें सर्वश्रेष्ठ रस किसे समझते हैं ?'

अत्यन्त ही दीनताके साथ उपाध्याय कहने लगे—'प्रभो ! यह कहनेकी बात नहीं है, यह तो अनुभवगम्य विषय है। भला, शृंगारके सामने सर्वश्रेष्ठ और सर्वसम्मत दूसरा रस हो ही कौन सा

सकता है ? और रस तो नाममात्रके रस हैं। वास्तवमें रस जिसे कह सकते हैं, वह तो आदिरस शृंगाररस ही है।' इन उत्तरोंको सुनकर प्रभु प्रेममें उन्मत्त होकर ऊपरको उछलने लगे और उछलते-उछलते उपाध्यायका आलिंगन करते हुए आप श्रीमाधवेन्द्रपुरी महाराजके इस श्लोकको पढ़ने लगे—

> श्याममेव परं रूपं पुरी मधुपुरी वरा।
> वयः कैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रसः ॥*

इस प्रकार प्रभु और उपाध्यायके प्रश्नोत्तरोंको सुनकर उपस्थित सभी पुरुषोंको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। सायंकालका समय सन्निकट आ पहुँचा। प्रभुने आचार्यसे लौटनेकी आज्ञा माँगी। इसपर ग्रामवासी अन्य ब्राह्मण भी प्रभुके निमन्त्रणका आग्रह करने लगे। तब आचार्यने कहा—'भाई, इन्हें यहाँ रखना मैं उचित नहीं समझता। ये प्रेममें विभोर होकर यमुनाजीमें कूद पड़ते हैं। यहाँसे यमुनाजीके सदा दर्शन होते रहते हैं, इसलिये मैं जहाँसे इन्हें लाया हूँ, वहीं पहुँचा आऊँगा, तब फिर जिसकी इच्छा हो, वह इन्हें ले आवे।'

आचार्यकी बात सुनकर सभी चुप हो गये। आचार्यने अपने स्त्री, बच्चे तथा परिवारके सभी आदमियोंके सहित प्रभुकी अभ्यर्चना की और उन्हें नावपर बिठाकर दशाश्वमेधघाटपर पहुँचा आये।

---

* रूपोंमें श्याम रूप ही सर्वश्रेष्ठ रूप है, पुरियोंमें मधुपुरी ही सर्वश्रेष्ठ पुरी है, ध्येयोंमें श्रीकृष्णकी किशोरावस्था ही सर्वोत्तम ध्येय है और रसोंमें शृंगाररस ही सर्वोत्कृष्ट रस है।

रूपकी विदाई और प्रभुका काशी-आगमन

यः प्रागेव प्रियगुणगणैर्गाढबद्धोऽपि मुक्तो
गेहाध्यासाद् रस इव परो मूर्त एवाप्यमूर्तः।
प्रेमालापैर्दृढतरपरिष्वङ्गरङ्गैः प्रयागे
तं श्रीरूपं सममनुपमेनानुजग्राह देवः॥*

(चैतन्यचन्द्रो० ना० ९। ४२)

प्रयागमें अपने भाई अनूपके सहित श्रीरूप दस दिनोंतक प्रभुके चरणकमलोंके समीप रहे। ये विद्वान् थे, भावुक थे, मेधावी थे, आस्तिक थे और थे प्रेमावतार चैतन्यदेवके परम कृपापात्र। फिर भला, इनका कल्याण होनेमें सन्देह ही क्या था। ये तो पहलेसे ही कल्याणस्वरूप थे, एक बार जिनके ऊपर गुरुचरणोंकी कृपा हो चुकी हो, वह फिर इस नश्वर जगत्के क्षणिक और अनित्य भोगोंमें सुखानुभव कर ही कैसे सकता है? हंस हो जानेपर फिर वह कौएके भोजनका स्पर्श क्यों करेगा? गुरु-कृपासे क्या नहीं हो सकता? यदि सद्गुरुकी एक बार भी कृपा हो जाय तो फिर चाहे वह पुरुष कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो उसका संसार-बन्धन बात-की-बातमें छिन्न-भिन्न हो जायगा और वह बन्धनमुक्त होकर

---

* जो पहले ही प्रभुके प्रिय गुणसमूहोंके द्वारा बँधकर भी घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवारके बन्धनोंसे मुक्त हो चुके थे उन रूप और उनके अनुज अनूपके ऊपर स्वयं रसतुल्य अमूर्त होनेपर भी उन श्रीगौरांगने श्रेष्ठ मूर्ति धारण करके प्रयागक्षेत्रमें प्रेमालाप और दृढतर आलिंगनोंद्वारा परम अनुग्रह किया।

गुरुकी परम कृपाका अधिकारी बन जायगा। सद्गुरु ही ईश्वर हैं, ब्रह्मके साकार स्वरूपका ही नाम गुरु है। हाड़-मांसका पुतला गुरु हो ही नहीं सकता। सर्वशक्तिमान्‌का पद अल्पज्ञ जीवको प्राप्त हो ही कैसे सकता है? श्रीरूपकी दृष्टिमें चैतन्यदेव हाड़-मांसके शरीरधारी जीव नहीं थे। वे तो उनके लिये प्रेमके साकार स्वरूप थे, सविशेष ब्रह्म थे। उन्होंने महाप्रभुको अवतारी सिद्ध करनेकी चेष्टा कहीं नहीं की है। अपने गुरुको श्रीकृष्णका विग्रह समझकर ही उन्होंने श्रीकृष्णकी लीलाओंका कथन किया है। उनकी दृष्टिमें श्रीकृष्णमें और श्रीचैतन्यमें भेद होता, तब तो वे इस बातको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते कि श्रीचैतन्य अवतार या अवतारी हैं। लोग कुछ भी समझें, उनके लिये तो श्रीचैतन्य ही श्रीकृष्ण हैं। वास्तवमें यह बात सत्य ही है। जहाँ भेदबुद्धि है वहीं इस बातका आग्रह किया जाता है कि ये ऐसे नहीं ऐसे हैं। श्रीरूपकी दृष्टिमें भेद-भाव नहीं था तभी तो वे 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के मंगलाचरणमें लिखते हैं—

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य॥*
(भ० र० सिन्धु १।२)

इन दस दिनोंमें ही प्रयागमें रहकर मेधावी श्रीरूपने प्रभुसे भक्तिके अत्यन्त गूढ़ रहस्यको समझ लिया और उसीका आपने अपने अनेकों ग्रन्थोंमें वर्णन किया है।

---

* जिन्होंने सामान्य कंगालरूप मुझ रूपके हृदयमें भक्ति-ग्रन्थ लिखनेकी प्रेरणा की उन्हीं श्रीहरिरूप श्रीचैतन्य-चरण-कमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।

महाप्रभु इनके हृदयकी सची लगनको जानते थे, इसलिये इन्हें वैराग्यका उपदेश करते हुए कहने लगे—'रूप! देखो, यह संसार विषयभोगोंमें कैसा पागल बना हुआ है। पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पुत्र, परिवार तथा प्रेय पदार्थोंकी प्राप्तिकी चिन्तामें ही यह अमूल्य जीवन बरबाद हो जाता है। कामिनी, काञ्चन और कीर्ति इन तीन रस्सियोंने ही जीवको कसकर बाँध रखा है। इनके कारण यह तनिक भी इधर-उधर हिल-डुल नहीं सकता। भगवान‌की प्राप्तिका मार्ग इन तीनोंसे दूसरी ही ओर है। इन तीनोंका मनसे जब पुरुष त्याग कर देता है, तब तो वह उस मार्गकी ओर जानेका अधिकारी होता है। जिन्हें इन तीनोंमें सुख-का अनुभव होता है, उन्हें भक्ति कहाँ! प्रभु-प्रेम कैसा! वे तो प्रभुके बारेमें बातें करनेके क्या—एक शब्द कहनेके भी अधिकारी नहीं हैं। जो स्वयं बँधा पड़ा है, उसका बिना देखे मार्गका वर्णन करना केवल विनोद ही है। बिना चाखे कोई अमृतका स्वाद बता सकता है! चाखनेपर भी लोग ठीक कहनेमें समर्थ नहीं होते, तब सुनकर कोई कह ही क्या सकता है!'

रूप! तुम सोचो तो सही, जिस स्त्रीके पीछे संसार पागल हो रहा है, वह वास्तवमें है क्या! इन्हीं पञ्चभूतोंकी एक पुतली है। किसी सुन्दर-से-सुन्दर स्त्रीको एकान्तमें ऐसी हालतमें देखो जब उसे संग्रहणीका रोग हो गया हो और उसके पास सेवा करनेके लिये कोई भी मनुष्य न हो, तुम देखोगे, उसके सम्पूर्ण शरीरसे दुर्गन्ध उठ रही होगी। वस्त्रोंको छूने-की तबीयत न चाहेगी। उसकी नासिकामेंसे गाढ़ा-गाढ़ा मल निकल रहा होगा। निरन्तर शौच जानेसे उसका गुलाबके समान मुख पिचककर पीला पड़ गया होगा। आँखें भीतर धँस गयी होंगी। स्तन ढीले और बुरे हो गये होंगे। आँखोंके दोनों ओर मल भर रहा होगा। पेट सिकुड़-कर पीठमें लग गया होगा। मूत्र और पुरीषसे उसकी जाँघें सन गयी

होगी, जिनकी ओर देखनेसे ही फुरहुरी आ जाती होगी। नख पीले पड़ गये होंगे। मुखमेंसे बदबू उठ रही होगी। और वाणीमें गहरी वेदना और करुणा आ गयी होगी। आजसे चार दिन पहले उसका पति उसे सर्वस्व समझकर उसके आलिङ्गनमें महान्-से-महान् सुखका अनुभव करता होगा, वही ऐसी दशामें उसका आलिङ्गन करना तो दूर रहा, पास भी नहीं बैठ सकता। जो रूप इतना विकृत हो सकता है, जिसका सौन्दर्य पेटमें भरे हुए दुर्गन्धयुक्त मलके ही निकल जानेसे ही क्षणभरमें नष्ट हो सकता है, उसमें सुखकी खोज करना और उसीको जीवनका परम सुख समझकर उसकी प्राप्तिके लिये पागल होना कैसी भारी मूर्खता है! अरे, इस पञ्चभूतके बने हुए और नौ छिद्रोंवाले मलमूत्रसे भरे हुए शरीरमें सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, सौन्दर्य और आनन्द कहाँ! वह तो उस ब्रह्मानन्दके आनन्दकी छायामात्र थी, जो विकृति होनेसे कुरूपता-को प्राप्त हो गयी। छायाको छोड़कर असली आनन्दको खोजो, तुम्हें शान्ति मिलेगी।

रूप! यही हाल काञ्चनका है। पृथ्वीका नाम है वसुन्धरा। वसु कहते हैं रत्नोंको। इस पृथ्वीमें असंख्यों रत्न भरे पड़े हैं। इस पृथ्वीमें सात द्वीप हैं, सात समुद्र हैं। समुद्रोंमें असंख्यों रत्न पड़े हैं, परन्तु सप्तद्वीप-वाली पृथ्वीका आधिपत्य पाकर भी मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती, वह तीनों लोकोंका स्वामित्व चाहता है, त्रिलोकेश होनेपर चौदह भुवनोंके आधिपत्य-की इच्छा रखता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका स्वामित्व लाभ करनेपर भी शान्ति नहीं, तब दस-बीस गाँव या हजार-पाँच सौ गाँवोंका आधिपत्य या स्वामित्व लाभ करके जो अपनेको सुखी बनाना चाहता है वह कितना भारी मूर्ख है। तुम ध्यानपूर्वक देखो, सोनेमें और मिट्टीमें क्या भेद है, जैसे पृथ्वीमेंसे सफेद मिट्टी, पीली मिट्टी, हरी मिट्टी और काली मिट्टी स्थान-भेदसे निकलती है वैसे ही सोना-चाँदी भी पीली और सफेद मिट्टी ही है।

तुमने उसमें श्रेष्ठपनाका भाव स्थापित कर रखा है तो वह श्रेष्ठ है। स्वयं ही तुमने उसे श्रेष्ठ बनाया है और फिर स्वयं ही उसकी प्राप्तिके लिये पागल बनकर प्रयास कर रहे हो। छायाका तुमसे अलग—भिन्न अस्तित्व नहीं। छाया तुम्हारे शरीरकी ही है, अब तुम भ्रमवश उस छायाको पकड़ने दौड़ो, तो कितना भी प्रयास क्यों न करो, छाया तुम्हारे हाथ कभी भी न आवेगी। भला, पीछे दौड़नेसे कहीं छाया पकड़ी जा सकती है। छायाका अस्तित्व तो तुमने पृथक् मान लिया है, जब तुम छायाको अपनी ही समझकर छोड़कर भागो, तो फिर वह तुम्हारा पीछा करेगी। तुम्हें छोड़कर वह जा ही कहाँ सकती है। मेरी बातको समझे ?

रूपने धीरेसे कहा—'हाँ, प्रभो! कुछ-कुछ समझा। यही कि वास्तवमें सोनेमें न तो श्रेष्ठत्व है और न मिट्टीमें कनिष्ठत्व। श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व हमारे ही हृदयमें है। जिसे जब चाहें छोटा मान लें और जब मानना चाहें तब बड़ा मान लें।'

प्रभुने कहा—'हाँ, ठीक है। अच्छा, इसे यों समझो। जैसे तुम अबतक रुपयेको ही श्रेष्ठ मानते थे। उसीकी प्राप्तिके लिये तुम हुसैन-शाहके दरबारमें रहते थे। हुसैनशाह जातिका यवन था, तुम ब्राह्मण थे। वह स्वामिद्रोही कृतघ्न था, तुम धर्मपूर्वक जीवन निर्वाह करनेवाले थे। वह मूर्ख था, तुम पण्डित थे। वह प्रमादी था, तुम जागरूक थे। वह अधर्मी था, तुम धर्मात्मा थे। सभी बातोंमें वह तुमसे हीन था, तुम उससे श्रेष्ठ थे। किन्तु तुम उसके बराबर सम्पत्तिशाली नहीं थे। तबतक तुम धनसम्पत्तिको ही सर्वश्रेष्ठ सुखका साधन समझते थे। इसीलिये अपनी कुलीनता, विद्वत्ता, धार्मिकता, जागरूकता आदि सभीको तुच्छ समझकर उस मूर्खके सामने सदा थर-थर काँपते हुए डरे-से खड़े रहते थे। अब जब तुम्हें पता चल गया कि धन-सम्पत्तिमें सच्चा

सुख नहीं है, तब, जो धनसम्पत्ति तुमने पसीनेकी जगह खून बहाकर पैदा की थी, उसे भक्तिमार्गमें प्रवेश करते ही मिट्टीकी तरह लुटाकर चले आये। क्यों ठीक है न ?'

धीरेसे रूपजीने कहा—'हाँ प्रभो ! वे रुपये मुझे भार-से मालूम पड़ते थे, एक दिनमें ही जैसे-तैसे मैंने उन्हें लुटा-फुटाकर किसी तरह अपना पिण्ड छुड़ाया।'

प्रभुने उसी स्वरमें श्रीरूपजीके हाथको अपने हाथमें लेकर कहा—'अच्छा, तो अब तुम ही सोचो रुपयेमें बड़प्पन है ? हुसैनशाहसे तुम डरते नहीं थे। इस बातसे डरते थे कि कहीं हमारी रुपयोंकी प्राप्तिमें विघ्न न हो जाय। अब जब तुम्हें धन-सम्पत्तिकी तुच्छताका बोध हो गया तो एक हुसैनशाह क्या लाख हुसैनशाह आ जायँ तो भी तुम उनसे नहीं डरोगे। क्योंकि जिस कारणसे डर होता था, वह कारण तो नष्ट हो गया। जिस प्रकार विषकी बेलको उखाड़ देनेपर फिर उसपर लगनेवाले दुखदायी फलोंसे लोगोंके मरणका भय नहीं होता, उसी प्रकार हृदयमेंसे धन-सम्पत्तिकी श्रेष्ठता निकाल देनेपर फिर किसीके सामने दीन होना या गिड़गिड़ाना नहीं पड़ता। जबतक हम लोगोंको गुणोंके कारण बड़ा न मानकर धन होनेके कारण बड़ा आदमी मानते हैं और इसी कारण धनिकोंका आदर करते हैं, तबतक समझो कि धनको ही सुख-साधन समझनेकी आसुरी वृत्ति हमारे हृदयमें विद्यमान है। जिसकी दृष्टिमें धनका कोई विशेष महत्त्व नहीं, जो धनको भी पृथ्वीका एक विकार समझता है वह किसीके सामने क्यों गिड़गिड़ाने लगा ? उसकी दृष्टिमें धनी-गरीब सभी समान हैं। धनकी तृष्णा ही गरीब-अमीरका भेदभाव पैदा कर देती है। जब हृदयमें किसीसे कुछ लेनेकी इच्छा ही नहीं तब जैसा ही धनी वैसा ही गरीब।'

'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः'

यही दशा कीर्तिकी है। कीर्ति भी धनकी तरह अनित्य और तुच्छ ही है। वास्तवमें तो इसे धनका ही एक अङ्ग समझना चाहिये। धन और कीर्त्ति प्रयत्न करनेसे थोड़े ही मिलते हैं, ये तो पूर्व जन्मोंके कर्मोंके अनुसार प्राप्त होते हैं। जड़भरतकी तरह असंख्यों ज्ञानी पागलोंकी तरह जीवन बिताकर मुक्त हो गये होंगे, उनका नाम कोई नहीं जानता। जड़भरतके भाग्यमें ही अवधूतपनेका आदर्श उपस्थित करनेवाली कीर्ति बदा थी। बहुत-से धनिक एकदम मूर्ख होते हैं, अच्छे-अच्छे विद्वान् धनके लिये प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें उतना धन प्राप्त ही नहीं होता। तभी तो कहा है—

भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।

अर्थात् सर्वत्र भाग्य ही फलीभूत होता है। विद्या और पुरुषार्थसे ही सब कुछ नहीं हो जाता। जब धन तथा कीर्ति हमें भाग्यके ही अनुसार प्राप्त होगी, तब कीर्तिके लिये प्रयत्न करना मूर्खता है। कीर्तिकी इच्छा करके हम वासनाजन्य एक नये पापकी और सृष्टि करते हैं, इसलिये जो कीर्तिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे मूर्ख हैं। भला जिन्होंने चौदह भुवनवाले अनेक ब्रह्माण्डोंका आधिपत्य किया, ऐसे असंख्यों ब्रह्मा उत्पन्न हुए और नष्ट हुए उनका कोई नाम भी नहीं जानता, तब यह क्षुद्र प्राणी अपनी कीर्तिको अमर बनानेके लिये बाग-बगीचा और कूप-मन्दिर बनाकर ही अपने नामको अक्षुण्ण रखना चाहता है, यह कितना भारी मूर्ख है। भाई कीर्ति तो पतिव्रता है, वह पुंश्चली स्त्री नहीं है। उसने तो एक ही पुरुष श्रीहरिको वरण कर लिया है, इसलिये तुम उसकी आशाको छोड़ दो, छोड़ दो, छोड़ दो। तुम्हें कीर्ति नहीं मिल सकती, नहीं मिल सकती, नहीं मिल सकती। कीर्तिके पति वे ही श्रीहरि हैं, इसलिये

उन्हींकी कीर्तिका कथन करनेमें कल्याण है। यदि तुम्हें कीर्ति बढ़ानी ही है, तो श्रीहरिकी कीर्ति बढ़ाओ। तुम इस कीर्तिको धारण करो कि हम कीर्तिपतिके कीर्तनिया सेवक हैं। हाँ, हरिके कीर्तनिया होनेसे कीर्ति तुम्हें प्यार करने लगेगी, क्योंकि अपने पतिकी प्रशंसा सुनकर सभीको सुख होता है और प्रशंसा करनेवालेके प्रति स्वाभाविक ही अनुराग हो जाता है।

श्रीरूपने हाथ जोड़े हुए दीनभावसे कहा—'हाँ, प्रभो! श्रीचरणोंके अनुग्रहसे मैं इतना तो समझा कि भक्तिमार्गकी ओर बढ़नेवाले साधकको कामिनी-काञ्चन और कीर्तिके स्वरूप पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पुत्र, परिवार और यावत् प्रेय पदार्थ हैं, उनका परित्याग करके तब इस पथकी ओर अग्रसर होना चाहिये। अब मैं कुछ साधन-तत्त्व समझना चाहता हूँ।'

प्रभुने कहा—'रूप! जीवका स्वरूप शास्त्रोंमें ऐसा बताया है कि बालके अग्रभागको लो, उसके सौ टुकड़े करो। उन सौमेंसे एकको लो, फिर उसके सौ टुकड़े करो। उससे भी सूक्ष्म जीवका स्वरूप है। अर्थात् जीव अति सूक्ष्म है। जीव इस चराचर विश्वमें समानरूपसे व्याप्त है, एक तिल रखनेयोग्य भी ब्रह्माण्डमें जगह नहीं है, जहाँ जीव न हो। अब जीवके दो भेद हैं—एक जड़, दूसरा चेतन अथवा स्थावर, जङ्गम। पत्थर, लकड़ी आदि स्थावर हैं और हलचल या क्रिया करनेवाले जङ्गम कहाते हैं। स्थावरसे जङ्गम श्रेष्ठ माने गये हैं। जङ्गमोंमें भी हाथी, घोड़ा आदि समझदार जानवर श्रेष्ठ हैं, उनमें भी मनुष्य श्रेष्ठ है, मनुष्योंमें ब्राह्मण और ब्राह्मणोंमें भी विद्वान्, विद्वानोंमें भी परिष्कृत बुद्धिवाला श्रेष्ठ है और उनमें भी सद्आचरणोंको अपने जीवनमें परिणत करनेवाला कर्ता श्रेष्ठ है और उन कर्ताओंमेंसे भी वह श्रेष्ठ है, जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया हो। ब्रह्मज्ञानियोंमें भी जो मुक्त हो गया हो वह श्रेष्ठ है और मुक्तोंसे भी सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्णभक्त है। जिसके हृदयमें सच्ची कृष्णभक्ति है उससे बढ़कर श्रेष्ठ कोई

हो ही नहीं सकता। श्रेष्ठपनेकी यही पराकाष्ठा है।' जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥*
(६।१४।५)

संसारमें प्रयत्न करनेपर चाहे सब कुछ प्राप्त हो सके, किन्तु श्रीकृष्णभक्तिका प्राप्त होना अत्यन्त ही दुर्लभ है। बस, भक्तिप्राप्तिका एक ही उपाय है। सब जगह, सब अवस्थाओं और सर्व कालमें श्रीहरिके ही नामोंका संकीर्तन करता रहे। श्रवण, कीर्तन ही प्रभुप्रेमप्राप्तिका मुख्य उपाय है और सब उपाय तथा आश्रयोंका परित्याग करके श्रीहरिकी ही शरण लेनी चाहिये। सर्व धर्मोंका परित्याग करके केवल उन्हींका चिन्तन-स्मरण करते रहना चाहिये। मैं तुम्हें भगवत्-कृपा और अहैतुकी भक्तिकी एक मोटी-सी पहचान बताता हूँ, उसीसे तुम समझ जाओगे कि भगवान्‌की भक्ति कैसे करनी चाहिये। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेवने स्वयं बताया है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
(३।२९।११)

प्राणिमात्रकी हृदयरूपी गुहामें रहनेवाले मुझ सर्वान्तर्यामी ईश्वरके भक्तवत्सलता आदि गुणोंके श्रवणमात्रसे ही बिना किसी रोक-टोकके जिस प्रकार गङ्गाजीका प्रवाह समुद्रकी ही ओर बहता रहता है उसी

---

* राजा परीक्षित शुकदेवजीसे प्रश्न करते हुए कह रहे हैं—
'हे महामुने! मुक्त हुए सिद्धोंमें भी नारायणका भक्त दुर्लभ है और उन करोड़ों भक्तोंमें भी शान्त हृदयका भक्त तो अत्यन्त ही दुर्लभ है।'

प्रकार उनके मनकी गति मेरी ही ओर बहती रहे, तो समझना चाहिये कि उसे ऐकान्तिकी या अहैतुकी भक्ति प्राप्त हो चुकी है। उसके प्राप्त होनेपर फिर श्रीकृष्ण दूर नहीं रहते। वे तो आकर भक्तसे लिपट जाते हैं। यही तो उनकी भक्तवत्सलता है।

आरम्भमें साधन-भक्ति होती है, साधन-भक्तिसे रतिभक्ति होती है और रतिभक्तिसे शुद्धा भक्ति या प्रेमरूपा भक्ति होती है। रतिभक्तिके पाँच भेद भक्ति-शास्त्रोंमें बताये गये हैं। उनके नाम (१) शान्तरति, (२) दास्यरति, (३) सख्यरति, (४) वात्सल्यरति और (५) मधुररति इस प्रकार हैं। शान्तरसके उपासकोंमें उदाहरणस्वरूप शुकदेव और जनकजीके नाम लिये जा सकते हैं। दास्यरसके उपासक अनेक भक्त हैं, ब्रजके ग्वाल-बाल तथा अर्जुनादि सख्यरतिके उदाहरण हैं। नन्द, यशोदा, देवकी और वसुदेवादिको वात्सल्यरतिके उपासक समझिये। मधुररसकी उपासनामें ब्रजकी गोपियाँ ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं, वैसे रुक्मिणी आदि हजारों रानियाँ तथा लक्ष्मी आदि इसकी उदाहरणस्वरूपा हैं। शान्तरसमें अपनेको छोटा माननेकी भावना है। दास्यमें अपनेको छोटा समझकर विविध प्रकारसे अपने सेव्यकी सेवा-चाकरी करनेकी इच्छा होती है। सख्यरतिका उपासक अपनेको छोटा भी मानता है, सेवा भी करता है, किन्तु उपास्यके सम्मुख निस्सङ्कोचभावसे बर्ताव करता है। वह शान्त और दास्यके उपासकोंकी भाँति डरता-सा नहीं रहता। वात्सल्यरूपसे उपासना करनेवाले मन-मनमें अपने प्रियको श्रेष्ठ ही समझते हैं। ऊपरसे व्यक्त नहीं करते। सेवा भी वे करते हैं और निस्सङ्कोच भी रहते हैं, किन्तु उनमें इन तीनों उपासकोंकी अपेक्षा अपने सेव्यके प्रति एक स्वाभाविक ममता भी होती है, यही इस रसमें विशेषता है। कान्ता-भावमें ये पाँचों ही बातें हैं। सेव्यको मनसे बड़ा भी मानते हैं, सेवा करनेकी भी उत्कट इच्छा रहती है, उसके सामने किसी प्रकारका सङ्कोच

भी नहीं होता । प्रगाढ़ ममता भी होती है और अपने शरीर तथा शरीर-की सम्पूर्ण क्रिया और चेष्टाओंको प्यारेके ही लिये समर्पित कर दिया जाता है । इसलिये यह कान्ताभाव ही सर्वश्रेष्ठ है । इस उपासनाके उपासक करोड़ोंमें क्या असंख्योंमें कोई एक होते हैं । शान्त, सख्य आदिके उपासक ही जब दुर्लभ हैं, तब कान्ताभावके उपासकोंके लिये तो कहना ही क्या ! 'यह मैंने तुमसे भक्तिका तत्त्व बहुत ही संक्षेपमें कहा है । तुम बुद्धिमान् हो, कविहृदयके हो, सरस हो, भगवत्-कृपाके अधिकारी हो, अतः इन भावोंको विस्तारके साथ वर्णन करके भक्तोंके सम्मुख रखना । अब मैं कल वाराणसी जानेके लिये सोच रहा हूँ ।'

प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करते हुए गद्गद कण्ठसे श्रीरूपने कहा—'प्रभो ! मैं कृतकृत्य हुआ, मुझे विश्वब्रह्माण्डके आधिपत्यसे भी जितनी प्रसन्नता न होती उतनी आज प्राप्त हुई है । अब मेरे लिये क्या आज्ञा होती है ? श्रीचरणोंके सन्निकट निवास करनेकी मेरी बड़ी उत्कट इच्छा है, जैसी आज्ञा हो !'

प्रभुने कहा—'रूप ! तुम समर्थ हो, तुम्हें मेरी संगतिकी अब विशेष आवश्यकता नहीं । इस समय तुम सीधे श्रीवृन्दावन जाओ और वहाँके सभी तीर्थोंकी यात्रा करके जहाँतक बन पड़े उन तीर्थोंके प्रकट करनेकी कोशिश करो । कालान्तरमें गौड़ होकर मुझसे पुरीमें आकर भेंट करना ।' इतना कहकर दूसरे दिन प्रभु तो नावपर चढ़कर उस पारको चले गये और रूप, अनूप, माथुरिया ब्राह्मण तथा कृष्णदासको प्रभु वहींसे विदा कर गये ।

महाप्रभुके चरणोंका चिन्तन करते हुए अपने भाईके सहित श्रीरूप मथुरा पहुँचे, वहाँ उन्हें गौड़के भूतपूर्व महाराजा सुबुद्धिराय मिल गये । उनके सम्बन्धमें हम पुस्तकके आदिमें ही बता चुके हैं कि वे लकड़ी बेच-

बेचकर एक पैसेके चनोंमें निर्वाह करते, शेष पैसोंसे बंगाली साधुओंकी सेवा करते। बंगालमें स्नानसे पूर्व तेल लगानेकी प्रथा है। तेलके बिना वहाँ स्नान ही ठीक नहीं समझा जाता। सुबुद्धिराय उन पैसोंसे तेल खरीदकर साधुओंको देते तथा उन्हें दही-चिउरा भी खिलाते। सहसा विश्रान्तघाटपर उनकी श्रीरूप और अनूप इन दोनों भाइयोंसे भेंट हो गयी। सुबुद्धिरायने इन दोनों भाइयोंका जैसा वे कर सकते थे स्वागत-सत्कार किया और फिर इनके साथ वे ब्रजके बारह वन तथा उपवनोंमें भी पैदल-पैदल यात्रा करनेके लिये गये। विधिका विधान तो देखिये, कलतक जो एक महाराजा थे और एक महामन्त्री वे दोनों ही आज भिखारीके वेषमें घर-घरसे टुकड़े माँगते हुए साधुवेषमें फिर रहे हैं। जिनके आश्रयसे हजारों पण्डित और विद्वानोंका निर्वाह होता था, वे ही आज एक टुकड़ा रोटीके लिये एक कंजूस गृहस्थीके द्वारपर खड़े-खड़े प्रतीक्षा करते हैं कि सम्भव है अब कोई घरसे निकलकर टुकड़ा डाले। विधाता! सचमुच भाग्यका खेल बड़ा ही विलक्षण है। इसी विधिकी विडम्बनाको दुर्लक्ष्य करके किसी कविने कैसा सुन्दर मार्मिक वचन कहा है—

> जातः सूर्यकुले पिता दशरथः क्षोणीभुजामग्रणीः
> सीता सत्यपरायणा प्रणयिनी यस्यानुजो लक्ष्मणः।
> दोर्दण्डेन समो न चास्ति भुवने प्रत्यक्षविष्णुः स्वयं
> रामो येन विडम्बितोऽपि विधिना चान्ये जने का कथा॥

'सर्वश्रेष्ठ सूर्यकुलमें जिनका जन्म हुआ, महाराजाओंके भी पूजनीय चक्रवर्ती दशरथजी जिनके पिता थे, सत्यमें निष्ठा रखनेवाली त्रैलोक्यमें अद्वितीय रूपलावण्ययुक्त पतिपरायणा सीताजी जिनकी पत्नी थीं, युद्धमें यमराजके समान साहस करनेवाले शूरवीर और परमपराक्रमी लक्ष्मणजी जिनके छोटे भाई थे, जिनके समान त्रिलोकीमें कोई धनुर्धारी शूर

नहीं था ऐसे रामचन्द्रजी स्वयं साक्षात् विष्णुके ही अवतार थे। उन श्रीरामचन्द्रजीकी भी जिस विधिने वञ्चना की, जिन्हें भी चौदह वर्ष विपत्तियोंको झेलते हुए कुश-कण्टकाकीर्ण वनोंमें फिरना पड़ा, तो फिर अन्य लोगोंकी तो बात ही क्या है!' हे देव! तुम्हारे चरणोंमें हमारा नमस्कार है। वस्तुतः भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके सम्बन्धमें यह कथन कविविनोद ही है।

इधर महाप्रभु अपने भक्तोंसे विदा होकर गङ्गाजीके किनारे-किनारे श्रीवाराणसी क्षेत्रमें पहुँचे। नगरके बाहर ही उन्हें चन्द्रशेखरजी मिल गये। प्रभुको देखते ही उन्होंने भूमिपर लोटकर प्रभुको प्रणाम किया। महाप्रभुने उनका आलिङ्गन करते हुए प्रेमपूर्वक पूछा—'चन्द्रशेखर! तुम यहाँ कहाँ! तुम्हें कैसे पता चला कि मैं आज आऊँगा?'

चन्द्रशेखरजीने कहा—'प्रभो! कल रात्रिमें मैंने स्वप्न देखा था कि आप आज काशीजीमें आ गये हैं। इसीलिये खोजमें आया था। यहाँ आते ही सहसा श्रीचरणोंके दर्शन हो गये। अब मेरी कुटियाको अपनी चरण-रजसे कृतार्थ कीजिये।'

वैद्य चन्द्रशेखरके आग्रहसे प्रभु उनके घर गये। समाचार पाते ही तपन मिश्र, उनके पुत्र रघुनाथ, वह मरहठा ब्राह्मण तथा और भी बहुत-से भक्त प्रभुके दर्शनोंके लिये आ गये। तपन मिश्रने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर प्रभुसे प्रार्थना की कि 'प्रभु जबतक काशीमें निवास करें तबतक मेरे ही घर भिक्षा करें।' प्रभुने मिश्रजीकी विनती स्वीकार कर ली और आप चन्द्रशेखर वैद्यके घरपर ही रहने लगे। रहते यहाँ थे और भिक्षा करने तपन मिश्रके यहाँ चले जाते थे। इस प्रकार महाप्रभु लगभग दो मासतक काशीजीमें ठहरे। यहीं श्रीरूपके भाई सनातनजी प्रभुसे आकर मिले, जिनका वृत्तान्त अगले अध्यायमें पाठकोंको मिलेगा।

श्रीसनातनकी कारागृहसे मुक्ति और काशीमें प्रभु-दर्शन

छिद्रान्वेषणतत्परः प्रियसखि प्रायेण लोकोऽधुना
रात्रिश्चापि घनान्धकारबहला गन्तुं न ते युज्यते।
मा मैवं सखि! वल्लभः प्रियतमस्तस्योत्सुका दर्शने
युक्तायुक्तविचारणा यदि भवेत् स्नेहाय दत्तं जलम् ॥*

(सु० र० भां० ३७२। ३३)

श्रीरूप तो प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके प्रयागसे वृन्दावनको चले गये अब उनके छोटे भाई श्रीसनातनका समाचार सुनिये। वास्तवमें सनातनजी श्रीरूपसे अवस्थामें बड़े थे, किन्तु उनसे पहले ही श्रीरूपको

---

* पतिके समीप गमन करनेवाली सखीसे दूसरी सखी कह रही है—'प्यारी सखी! देख,संसारी लोग बड़े ही छिद्रान्वेषण करनेवाले होते हैं, वे सदा दूसरोंकी बुराइयोंको ही खोजा करते हैं और फिर दूसरे आज बड़ी अन्धकारपूर्ण रात्रि है, ऐसे समयमें बहुत दूरपर स्थित अपने प्यारेके पास तेरा जाना ठीक नहीं है।' इसे सुनते ही चौंककर जल्दीसे उसके मुखपर हाथ रखते हुए सखी कहने लगी—'बहिन! ऐसी बात फिर कभी मुखसे मत निकालना। जो मेरे जीवनसर्वस्व हैं, हृदयवल्लभ हैं, मैं उनके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हूँ, इसमें यदि उचित-अनुचितका विचार हो तब तो समझ लो कि स्नेहको तिलाञ्जलि दे दी गयी अर्थात् स्नेहमें उचित-अनुचितका विचार ही नहीं होता।' किसी तरह प्यारेसे भेंट हो यही उद्देश्य रहता है।

प्रभुके समीप रहकर भक्तिमार्गका उपदेश प्राप्त हुआ था। भक्तिमार्गमें अवस्थासे बड़प्पन न होकर गुरुकृपासे ही बड़ेपनका विचार किया जाता है। महाप्रभुकी कृपाके पात्र प्रथम श्रीरूप ही हुए थे, अतः सनातनजी इन्हें अपनेसे श्रेष्ठ और गुरु समझते थे। सब वैष्णवोंमें भी ऐसी ही मानता थी। इसीलिये वैष्णवसमाजमें श्रीसनातन-रूप न कहे जाकर श्रीरूप-सनातन ही कहे जाते हैं। अवस्थामें छोटे होनेपर भी प्रथम गुरु-कृपा होनेके कारण श्रीरूपका ही नाम पहले लिया जाता है।

कारावासकी काली कोठरीमें पड़े हुए श्रीसनातनजी श्रीचैतन्यकी मनमोहिनी मूर्तिका ही सदा ध्यान करते रहते। उन्हें अन्न-जल कुछ भी नहीं भाता था। नेत्रोंमें नींदका नामतक नहीं। दिन-रात्रि गौराचाँद-गौराचाँद रटते-रटते ही इनके आठों प्रहर बीतते। रात्रि बीत जाती, दिन आ जाता। दिन ढलकर शाम हो जाती, फिर अन्धकार छा जाता, किन्तु इन्हें इसका कुछ भी ध्यान नहीं। ये तो चैतन्य-चिन्तनमें सभी कामोंको भूले हुए थे। इनका मनमधुप सदा अरुण रंगवाले श्रीचैतन्य-पदारविन्दोंमें ही गुञ्जार करता रहता। शरीर कारावासकी कालकोठरीमें पड़ा हुआ धौंकनीकी तरह साँस लेता रहता। जब इन्हें बाह्यज्ञान होता, तभी इनका दिल धड़कने लगता; इस बातके स्मरणसे कि मेरा शरीर श्री-चैतन्य-चरणोंसे पृथक् होकर कारावासमें पड़ा हुआ है, ये इन विचारोंके आते ही मूर्छित हो जाते और लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगते। इसी बीच गुप्त रीतिसे इन्हें अपने बड़े भाईका पत्र मिला। पत्रको पढ़कर इनकी विकलता और भी बढ़ गयी। ये चैतन्य-चरणोंके मंगलमय तलुओंमें अपने मस्तकको रगड़नेके लिये व्यग्र हो उठे। मोदीके यहाँ दस हजार रुपयोंका समाचार पाते ही इन्होंने सोचा —'इन चाँदीके ठीकरोंके द्वारा ही मेरी कारावाससे मुक्ति हो जाय और मैं चैतन्य-चरणोंके दर्शन

पा सकूँ तो यह जीवन सार्थक हो जाय।' प्रेमके आवेशमें वे इस बातको बिल्कुल ही भूल गये कि रिश्वत देकर चोरी-चोरी जेलसे निकलना पाप है। यह नियमके विरुद्ध है, किन्तु यहाँ बेचारे नियमकी गति ही नहीं है, प्रेममें नियम कैसा? प्रेम तो नियमके झंझटोंसे परे है। उन्होंने उसी समय कारावासके प्रधान कर्मचारीसे कहा—'भाई, तुम मुझे जानते हो, मैं कौन हूँ?'

जेलरने कहा—'श्रीमन्, मैं आपको खूब जानता हूँ, आप राज्यके प्रधान मन्त्री हैं।'

श्रीसनातनने कहा—'तुम्हें यह भी पता है कि मैं क्यों जेलमें हूँ?'

नम्रताके साथ जेलरने कहा—'श्रीमन्, इस बातको सभी लोग जानते हैं कि आपने कोई अपराध नहीं किया है, आप अपनी नौकरीको छोड़ना चाहते थे, इसीपर बादशाहने आपको कैद कर लिया।'

श्रीसनातनजीने स्नेहसे कहा—'तुम बता सकते हो, मैं नौकरी क्यों छोड़ना चाहता था?'

जेलरने कहा—'श्रीमन्, मैंने पण्डितों और समझदार आदमियोंके मुखसे ऐसा सुना है कि आप भजन करना चाहते हैं।'

'भजन करना अच्छा काम है या बुरा, तुम्हारा इस बारेमें क्या विचार है?' सनातनजीने पूछा।

इसपर बड़ी ही सरलताके साथ जेलरने कहा—'श्रीमन्! मैं इस बारेमें क्या बताऊँ! हम तो घर-गृहस्थी झंझटोंके कारण पैसेके ऐसे गुलाम बन गये हैं, कि जिसने हमें पैदा किया है, उसे एकदम भूल गये हैं। हम इस बारेमें कह ही क्या सकते हैं? आप भाग्यवान् हैं जो आप

सब कुछ छोड़-छाड़कर ईश्वरका भजन करना चाहते हैं, इससे बढ़कर दूसरा कोई काम और हो ही क्या सकता है ?'

'अच्छा, तुम यह बताओ, जो लोग भजन करना चाहते हैं, उनकी मदद करना पाप है या पुण्य ?' सनातनजीने धीरेसे पूछा ।

जेलरने कहा—'ऐसे आदमियोंकी जितनी भी जिससे बन सके, मदद करनी चाहिये । इससे बढ़कर पुण्यका काम दूसरा है ही नहीं ।'

'तब तुम मुझे इस जेलखानेसे निकालनेमें सहायता दो ।' सनातनजीने चारों ओर देखकर जेलरके कानमें कहा ।

कुछ डरता हुआ और चारों ओर देखता हुआ कम्पित स्वरमें धीरे-धीरे जेलर कहने लगा—'श्रीमन् ! यह मेरी शक्तिके बाहरकी बात है । बादशाह इस बातके सुनते ही मुझे जिन्दा ही गड़वाकर कत्ल करा देगा ।' सनातनजीने धीरेसे कहा—'भाई, मैंने मन्त्रीपनेमें तुम्हारे साथ बड़े-बड़े उपकार किये हैं, तुम इतना भी नहीं कर सकते ? मेरे दस हजार रुपये अमुक मोदीके यहाँ रखे हैं, आज ही पत्र लिखकर मैं उन्हें मँगाकर तुम्हें दे दूँगा । तुम बाल-बच्चेदार आदमी हो, उनसे तुम्हारा काम चलेगा ।'

दस हजार रुपयोंका नाम सुनते ही पैसोंको ही सर्वस्व समझनेवाला वह तीस रुपये महीनेका जेलर कर्तव्य-विमूढ़ हो गया । उसने दस हजार रुपये अपने जीवनमें कभी देखे भी नहीं थे । आज थोड़ा-सा साहस करनेमें ही इकट्ठे दस हजार रुपये मिल जायँगे, इसीको सोचकर और हर्षके भावों-को दबाते हुए विवशताके स्वरमें कहने लगा—'श्रीमन् ! रुपयोंकी क्या बात है, मैं तो पहले भी आपका गुलाम था, अब भी गुलाम हूँ, मगर बादशाह पूछेंगे, तो मैं क्या जवाब दूँगा ?'

सनातनजी समझ गये कि मेरा मन्त्र काम कर गया । उन्होंने दृढ़ताके स्वरमें कहा—'हम कोई चोर-डाकुओंकी तरह तो बन्दी हैं ही

नहीं। राजा भी जानता है कि हमारे साथ राजबन्दीका-सा व्यवहार होता है। कह देना—वे गङ्गास्नान करने गये थे, वहीं गङ्गाजीमें बह गये। फिर बहुत ढुँढ़वानेपर भी उनका पता नहीं चला। मैं आज ही गौड़देशको छोड़ दूँगा और फिर इधर आऊँगा ही नहीं, तब बादशाहको कैसे पता चल जायगा।' यह उक्ति जेलरके मनमें बैठ गयी। बैठ क्या गयी दस हजार रुपयोंके लोभसे घबड़ायी हुई बुद्धिके बहलावका उसे एक अकाट्य बहाना मिल गया। यह सनातनजीकी बातसे सहमत हो गया और मोदीके यहाँसे रुपये मँगा लिये गये। छिपकर भागनेका सभी प्रबन्ध ठीक कर दिया गया।

अन्धकारसे परिपूर्ण घोर रात्रि थी, सभी लोग सो रहे थे। जेलके पहरेदार कभी-कभी भर्रायी हुई आवाजसे बीच-बीचमें 'ताला जंगला लालटेन सब ठीक है सा······हब' कह-कहकर बेमनसे चिल्ला देते थे और फिर दीवालके सहारे लुढ़क जाते। सभीपर निद्रादेवीका प्रभाव व्याप्त था, किन्तु दो ही जाग रहे थे, एक तो प्रभु-दर्शनोंके लालची श्रीसनातन और दूसरे दस हजार रुपयोंकी गर्मीसे फूले हुए गौड़देशके जेल-दरोगा। एकको प्रभुकी चिन्ता थी, दूसरेको पैसेका हर्ष था। अत्यन्त चिन्तामें और अत्यन्त हर्षमें नींद नहीं आती। धीरेसे सनातनजीकी कोठरीके किवाड़ खुले। एक विश्वासी पहरेदारके साथ जेलरने उनकी कोठरीमें प्रवेश किया। दबी हुई आवाजसे उसने कहा—'सब प्रबन्ध ठीक हो गया है श्रीमन्! अब आपके चलनेकी ही देर है।' जेलरकी बात सुनकर धीरेसे सनातनजीने कहा—'मैं भी बिल्कुल तैयार हूँ।' यह कहकर पासमें पड़े हुए अपने एक ईशान नामक विश्वासी सेवकको उन्होंने जगाया। आँखें मलता हुआ ईशान जल्दीसे उठ पड़ा और उनके संकेतसे अपनी गुदड़ीको उठाकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा। फाँसीघरके छोटे दरवाजेसे होकर सभी लोग गङ्गातटपर आये। यहाँ पहलेसे ही नाव तैयार खड़ी थी, सब

लोग चुपचाप उसमें बैठ गये। नाव चल पड़ी, सनातनजीने अन्तिम बार गौड़की राजधानीको प्रणाम किया और थोड़ी ही देरमें वे गङ्गाजीके उस पार पहुँच गये।

पार पहुँचकर सनातनजीने जेल-दरोगाकी ओर कृतज्ञताकी दृष्टिसे एक बार देखा। डरते-डरते जेलरने उन्हें प्रणाम किया। नावमें बैठकर जेलर लौट गया और सनातनजी राजपथको छोड़कर वृक्षलताओंसे घिरे हुए झाड़-खण्डके रास्तेसे आगे बढ़ने लगे। वे गौरदर्शनोंके लिये इतने उत्सुक हो रहे थे कि पैरमें गड़नेवाले कुश-कण्टक तथा कंकड़-पत्थरोंका उन्हें ध्यान ही नहीं था। वे गौर-गौर कहकर रुदन करते हुए रात्रिके घोर अन्धकारमें पश्चिमकी ओर बढ़ रहे थे। इसी प्रकार जङ्गल और वनोंमें होते हुए वे पातड़ा नामक पहाड़के समीप पहुँचे। स्वामि-भक्त ईशान नामक सेवक उनकी ऐसी विपत्तिकी अवस्थामें भी बराबर उनके साथ चल रहा था। पातड़ा पहाड़के समीप एक डाकुओंका सरदार रहता था। उसके पास एक ज्योतिषी था। वह ज्योतिषी गणित करके बता देता था कि अमुक पथिकके पास कितना द्रव्य है, यह डाकू अपने साथियोंके सहित पथिकोंसे धन लूट लेता और उन्हें मार डालता था। स्वामि-भक्त ईशानने भी मार्गव्ययके निमित्त आठ मुहरें अपने वस्त्रोंमें छिपा रखी थीं। ज्योतिषीने उस डाकुओंके दलपतिको बता दिया कि इस आदमीके नौकरके पास आठ मुहरें हैं। मुहरोंका नाम सुनते ही सरदारने इनकी खूब आवभगत की और इनके भोजन आदिका बहुत ही अच्छा प्रबन्ध कर दिया। आज दो दिनोंके पश्चात् भोजन पाकर श्रीसनातन सुखपूर्वक लेटे। उन्होंने सरदारसे कहा—'कृपा करके हमें पहाड़के परली पार पहुँचा दीजिये।' सरदारने उल्लासके सहित कहा—'हाँ, हाँ, अवश्य, जैसा आप कहेंगे वैसा ही प्रबन्ध कर दिया जायगा।' बुद्धिमान् राजमन्त्री सनातनजीने सोचा—'डाकू होकर यह हमारा इतना

अधिक सम्मान क्यों कर रहा है, यह इतना विनम्र क्यों बना है। अवश्य ही इसके अन्दर कोई गुप्त रहस्य है।' सोचते-सोचते उनकी दृष्टि ईशानपर गयी, उन्होंने पूछा—'क्यों रे, तेरे पास कुछ द्रव्य तो नहीं है, ठीक-ठीक बता दे तैंने कुछ छिपा तो नहीं रखा है?'

गिड़गिड़ाकर नौकरने कहा—'श्रीमन्! मेरे पास सात मुहरें हैं।'

उसे डाँटते हुए सनातनजीने कहा—'धत्तेरे बदमाशकी; तेरा लोभ अब भी बना रहा। अभी जाकर इन सबको डाकुओंके सरदारको दे आ।'

अपने स्वामीकी आज्ञासे ईशान सरदारके पास गया और सात मुहर रखकर कहने लगा—'मेरे स्वामीने ये मुहरें आपके पास भेजी हैं।'

हँसकर उसने उत्तर दिया—'एक तो फिर भी छिपा ही ली, मुझे पहले ही पता चल गया था। अस्तु, मैं तुम्हारे स्वामीकी सचाईसे बहुत प्रसन्न हूँ, ये मुहरें उन्हींको दे देना।' इतनेमें ही सनातनजी भी वहाँ आ उपस्थित हुए। सरदारको मुहरोंको लौटाते देखकर उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा— 'आप इन मुहरोंको ले लें। मुझे तो कहीं-न-कहीं फेंकनी ही होंगी। मैं तो राजमन्त्री पदको छोड़कर जेलसे भागकर आया हूँ, कृपा करके मुझे उस पार पहुँचा दीजिये।'

सरदारने चार आदमी इनके साथ कर दिये और ये पहाड़के उस पार हो गये। आगे चलते-चलते सनातनजीने ईशानसे पूछा— 'ईशान! मालूम पड़ता है, अभी तेरे पास कुछ और द्रव्य है?'

ईशानने लज्जितभावसे कहा— 'श्रीमन्! मेरे पास एक मुहर और है।'

तब श्रीसनातनजीने कहा—'भैया, मुझे अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं। मेरा तुम्हारा अब साथ ही कैसा? तुम अपने घर लौट जाओ।'

रोते-रोते ईशानने अपने स्वामीके पैर पकड़ लिये और उनके बहुत कहने-पर वह लौट गया। सनातनजी उसी प्रकार झाड़-झंकाड़ोंमें होते हुए हाजीपुर पहुँचे।

हाजीपुरमें इनके बहनोई श्रीकान्तजी किसी राजकाजसे ठहरे हुए थे, उनसे अकस्मात् इनकी भेंट हो गयी। श्रीकान्त इन्हें दरवेशके वेशमें देखकर बड़े ही विस्मित हुए और कुछ काल वहाँ ठहरनेका आग्रह किया, किन्तु इन्होंने वहाँ रहना स्वीकार नहीं किया। तब श्रीकान्त इनसे मार्गव्यय ले जानेके लिये बहुत आग्रह करने लगे, किन्तु इन्होंने कुछ भी साथ लेना स्वीकार नहीं किया; बहुत कहनेपर एक भूटानी कम्बल इन्होंने ले लिया।

इनका वेष मुसलमान फकीरोंका-सा था। भिक्षा माँगते हुए और गौर-नामका जप करते हुए ये श्रीकाशीजीमें पहुँचे। वहाँ इन्हें पता चला कि महाप्रभु चन्द्रशेखरके घरपर ठहरे हुए हैं। इस समाचारको सुनते ही ये परम उल्लासके सहित चन्द्रशेखरजीके घरके पास पहुँचे और बाहर बैठकर प्रभुदर्शनोंकी प्रतीक्षा करने लगे।

प्रेममें भी कितना अधिक आकर्षण होता है, घरके भीतर बैठे हुए महा-प्रभुने सनातनजीका आगमन जान लिया और पासमें बैठे हुए चन्द्र-शेखरसे उन्होंने कहा—'चन्द्रशेखर! बाहर एक वैष्णव साधु बैठे हैं, उन्हें बुला लाओ।'

बाहर जाकर चन्द्रशेखरने देखा कि यहाँ तो कोई वैष्णव साधु है नहीं। भीतर लौटकर उन्होंने प्रभुसे कहा—'प्रभो! वहाँ तो कोई वैष्णव साधु है नहीं।'

प्रभुने हँसकर कहा—'हाँ है, जरूर है, तुम अच्छी तरहसे खोजो।'

चन्द्रशेखर फिर गये, किन्तु वहाँ एक मुसलमान दरवेशके सिवा कोई वैष्णव साधु उनके देखनेमें नहीं आया।

उन्होंने आकर हैरानीके साथ कहा—'प्रभो ! एक मुसलमान दरवेश तो द्वारपर बैठा है । उसके अतिरिक्त कोई वैष्णव साधु तो मुझे फिर भी नहीं दीखा ।'

प्रभुने मुसकुराकर कहा—'जिसे तुम मुसलमान दरवेश समझते हो वही परम भागवत वैष्णव है, उसीको मेरे पास लाओ ।'

प्रभुकी आज्ञासे चन्द्रशेखर श्रीसनातनजीको साथ लेकर भीतर आये ! सनातनने दूरसे ही भूमिमें लेटकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया । प्रभु जल्दीसे उठकर उन्हें आलिंगन करनेके लिये दौड़े । प्रभुको देखते ही वे सर्पको देखकर डरते हुएकी भाँति पीछे हटते हुए दीनताके साथ प्रभुसे कहने लगे—'प्रभो ! मुझको स्पर्श न कीजिये । नाथ ! मैं आपके स्पर्शके योग्य नहीं हूँ ।'

भक्तवत्सल गौराङ्ग कब सुननेवाले थे वे जोरोंसे सनातनजीको आलिंगन करते हुए कहने लगे—'आज मैं पावन बन गया, जो सनातनजीकी देहसे स्पर्श हो गया । सनातनजीके अंगस्पर्शसे पापियोंको भी श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है ।'

सनातनजी प्रभुके कृपाभारसे दब-से गये । प्रभुने उन्हें अपने पास ही आसन दिया और उनके कारावासका सब वृत्तान्त पूछा, सब वृत्तान्त सुनकर प्रभुने कहा—'तुम्हारे दोनों भाई मुझे प्रयागमें मिले थे, वे वृन्दावन गये हैं । तुम कुछ काल यहीं मेरे पास रहो ।' प्रभुकी आज्ञा पाकर सनातन चुपचाप नीचेको सिर किये हुए बैठे रहे । प्रभु उनके ही सम्बन्धमें सोचते रहे ।

श्रीसनातनका अद्भुत वैराग्य

शरीरं व्रणवद् बोध्यमन्नं च व्रणलेपनम्।
व्रणशोधनवत् स्नानं वस्त्रं च व्रणपट्टवत्॥ *

महाप्रभुका सम्पूर्ण जीवन त्यागमय था, त्याग उन्हें सबसे अधिक प्रिय था, संसारी भोगोंका जब भी त्याग किया जाय, जितना भी त्याग किया जाय उतना ही अच्छा है, किन्तु त्याग वैराग्यके बिना टिकता नहीं, इसीलिये वे मर्कटवैराग्यके विरुद्ध थे। अपने शरणापन्न भक्तोंको वे खूब ठोक-बजाकर देख लेते थे कि इनके जीवनमें वैराग्य

---

* ज्ञानी लोग इस शरीरको फोड़ेकी तरह समझते हैं, जिस प्रकार फोड़ेमें पुलटिस बाँधते हैं, उसी प्रकार वे अन्नके टुकड़े खाकर निर्वाह करते हैं, फोड़ा और अधिक न सड़ जाय, इसलिये उसे रोज धोते हैं, इसी प्रकार वे स्नान कर लेते हैं, जिस प्रकार कपड़ेसे फोड़ेको बाँधे रहते हैं, उसी प्रकार वे वस्त्रोंको पहनते हैं, अर्थात् उनका भोजन, स्नान और वस्त्र इस शरीरको सजाने, पुष्ट करने या सुखी रखनेके लिये नहीं होता। वे इसे सुरक्षित रखनेको ही इन क्रियाओंको करते हैं।

है, कि नहीं। यदि वैराग्य देखते तब तो उसे महान् वैराग्यका उपदेश करते और जब उन्हें वैराग्यकी कमी प्रतीत होती तो उसे श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ घरमें ही रहकर निष्कामभावसे संसारी कर्मोंको करते रहनेकी ही शिक्षा देते। वे जानते थे कि ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही व्यवहार करते हैं, इसलिये सब किसीको विषयोंसे एकदम हट जानेका आग्रह नहीं करते और त्याग न करनेवालेको वे बुरा भी नहीं बताते, क्योंकि विषयोंका त्याग सब नहीं कर सकते, त्याग करनेवाले तो कोई विरले ही होते हैं।

श्रीरूप और सनातनके व्यवहारसे ही प्रभु समझ गये कि इन लोगोंके जीवनमें महान् वैराग्य है। सचमुच ये दोनों भाई पहले जितने अधिक भोगी थे पीछे उससे भी अधिक त्यागी बन गये। श्रीसनातनजीके लिये तो सुनते हैं कि घर बनाकर या कुटियामें रहना तो अलग रहा, ये एक दिनसे अधिक एक पेड़के नीचे भी वास नहीं करते थे। बारहों महीने जंगलमें किसी पेड़के नीचे पड़ रहना, दूसरे दिन उसे छोड़कर दूसरे वृक्षके नीचे चले जाना यही इनका दैनिक व्यापार था। ब्रजवासियोंके घरोंसे रोटियोंके छोटे-छोटे टुकड़े माँग लाते। उन्हें यमुना-जलके साथ जिस-किसी भाँति गलेसे नीचे निगल जाते। जो बच रहते उन्हें पृथ्वीमें गाड़ देते और दूसरे दिन उन्हें जलमें भीजकर फिर खा जाते। ओढ़नेको रास्तेमें पड़े हुए चिथड़ोंकी एक गुदड़ीमात्र रखते। पात्रोंमें उनके पास मिट्टीके एक टोंटनीदार करुवेके सिवा कुछ नहीं रहता। 'कर करुवा गुदरी गले' यही इनका बाना था। इसी प्रकार इन्होंने बीसों वर्ष श्रीवृन्दावनकी पवित्र भूमिमें बिताये। प्रेमावतार गौराङ्ग इनके इस वैराग्यसे बड़े सन्तुष्ट होते थे और वृन्दावनसे जो भी आता उसीसे इनका समाचार पूछते। सनातनको महान् वैराग्यकी शिक्षा प्रभुने काशीधाममें ही दी थी। महाप्रभुने स्पष्ट नहीं कहा। स्पष्ट तो मूर्खों और बुद्धिहीनोंसे कहा जाता है,

'बुद्धिमानोंके लिये तो इशारा ही काफी होता है।' श्रीसनातन परम बुद्धिमान् थे, एक देशका शासन इन्हींकी कुशाग्र बुद्धिसे होता था। फिर तिसपर भी इनके ऊपर प्रभुकी पूर्ण कृपा थी, फिर ये महाप्रभुके संकेतको क्यों न समझते। पाठकोंको अगली घटनासे इसका पता चल जायगा।

वैद्य चन्द्रशेखर महाप्रभु और श्रीसनातनजीके परस्पर मिलनको देखकर चकित हो गये। महाप्रभु इन मुसलमान साधुसे इतने प्रेमसे क्यों मिल रहे हैं, सगे भाईकी तरह घुल-घुलकर बातें क्यों कर रहे हैं, वैद्य महोदय इन्हीं विचारोंमें निमग्न थे। वे बीच-बीचमें महाप्रभुकी दृष्टि बचाकर श्रीसनातनकी ओर देख लेते थे और नीचेको मुख करके कुछ सोचने लगते। प्रभु वैद्यके मनोगत भावको ताड़ गये। इसलिये श्रीसनातनका परिचय देते हुए कहने लगे—'चन्द्रशेखर! तुम इन्हें जानते नहीं हो, ये गौड़देशके बादशाहके प्रधान मन्त्री हैं। महान् पण्डित हैं, अद्वितीय भगवद्भक्त हैं; पद, प्रतिष्ठा, धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार सभीपर लात मार करके भगवद्भजन करनेके लिये निकल पड़े हैं, इनके दो भाई भी इसी प्रकार घर-बार छोड़कर वृन्दावन वास करने गये हैं, वे मुझे प्रयागमें मिले थे। आज इनकी पदधूलिसे तुम्हारा घर सचमुच तीर्थ बन गया।' सनातनजी प्रभुके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जाके कारण पृथ्वीमें गड़े-से जा रहे थे, उनके मुखसे एक भी शब्द नहीं निकला। वे नीची दृष्टि किये हुए अपने नखसे पृथ्वीको कुरेद रहे थे, मानों वे देख रहे थे कि यदि इसमें कोई बिल मिल जाय तो मैं सीताजीकी तरह अन्दर समा जाऊँ।

श्रीसनातनजीका परिचय पाते ही चन्द्रशेखरजीने भूमिपर लोट-कर उन्हें प्रणाम किया। सनातनजीने रोते-रोते उनके चरण पकड़ लिये और फूट-फूटकर रोने लगे। एक दूसरेके चरणोंमें अपना माथा रगड़ने

लगे, एक दूसरेका आलिंगन करके अपने प्रेमके आवेशको कम करना चाहते थे, किन्तु वह वेग इतना अधिक था कि प्रेमालिंगन, चरणस्पर्श तथा अश्रुविमोचनसे शान्त ही नहीं होता था। महाप्रभु इन दोनोंके प्रेमको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे। कुछ कालके अनन्तर प्रभुने कहा—'चन्द्रशेखर, तुम सनातनको गंगाजीपर ले जाओ। इनकी दाढ़ी-मूँछ सभी मुड़या दो। क्षौर कराके इनका स्वरूप विशुद्ध वैष्णवोंका-सा बना दो।' चन्द्रशेखरने प्रभुकी आज्ञा पालन की। वे गंगाजीपर जाकर श्रीसनातनजीका क्षौर करा लाये।

सनातनजीके पास उस भूटिया कम्बलके सिवा और कोई नूतन वस्त्र नहीं था। चन्द्रशेखरने उन्हें नूतन वस्त्र देने चाहे, किन्तु उन्होंने नूतन वस्त्र पहनना स्वीकार नहीं किया। बहुत आग्रह करनेपर भी वे राजी नहीं हुए, इस बातसे प्रभुको परम प्रसन्नता हुई। इतनेमें ही तपन मिश्रजी प्रभुको भिक्षा करानेके निमित्त लिवाने आ गये। प्रभुने हँसते हुए कहा—'मिश्र महाशय! अब मेरा परिवार बढ़ रहा है, आज हम दो हो गये। दोनोंको भिक्षा करानी होगी।'

कुछ लज्जाके स्वरमें विनम्रभावसे नीची दृष्टि किये हुए तपन मिश्रने कहा—'प्रभो! सम्पूर्ण वसुधा ही आपका कुटुम्ब है। मैं तो आपका वेतन-भोगी नौकर हूँ। नौकर राजाकी ही वस्तुओंको लाकर स्वामीके सम्मुख समर्पण करता है। इसलिये आपकी वस्तुको जैसे आज्ञा करेंगे, वैसे ही समर्पण कर सकूँगा। दान तो वह दे सकता है, जो स्वतन्त्र हो, जिसका किसी वस्तुपर अपने-पनका अधिकार हो। जब सभी चीज स्वामीकी है, तो फिर इसमें नौकरको क्या?' महाप्रभु उनकी इस बातसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें सनातनजीका परिचय कराया। परिचय पाते ही तपन मिश्रजी उनसे लिपट गये, सनातनजीने भी उनकी चरणवन्दना की। फिर प्रभुके पीछे-पीछे

सनातनजी भी तपन मिश्रके घर चले। प्रभु भोजनके आसनपर बैठते ही कहने लगे—'सनातनको बुलाओ, उसे भी भोजन कराओ।' दयालु तपन मिश्र तो भाग्यवान् सनातनजीको प्रभुके अधरामृत स्पर्श किया हुआ महाप्रभुका उच्छिष्ट प्रसाद देना चाहते थे, इसलिये उन्होंने कहा—'प्रभो! अभी सनातनजीका कुछ कृत्य शेष है, आप भिक्षा कर लें, वे मेरे साथ करना चाहते हैं।' महाप्रभुने फिर कुछ नहीं कहा। उन्होंने भिक्षा कर ली।

प्रभुके भिक्षा कर लेनेपर तपन मिश्रजीने प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद सनातनजीको दिया। उस महाप्रसादको पाते ही सनातनजी ऐसा अनुभव करने लगे कि हमारे सभी पाप प्रत्यक्ष रीतिसे हमारे शरीरसे निकल-निकलकर बाहर जा रहे हैं। प्रसाद पा लेनेके अनन्तर सनातनजीको एक प्रकारकी अपूर्व ही प्रसन्नता हुई। इतनी प्रसन्नता पहले उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं हुई थी।

सनातनजीके प्रसाद पा लेनेपर तपन मिश्र अपने घरमेंसे नूतन वस्त्र ले आये और उन्हें हठपूर्वक श्रीसनातनजीके शरीरपर पहनाने लगे। सनातनजी उनके पैर पकड़कर अत्यन्त ही करुण स्वरमें कहने लगे—'मिश्रजी, आप मुझसे आग्रह न करें। मैं अब नूतन वस्त्र नहीं पहनूँगा। यदि आप नहीं मानते हैं, तो अपना पहना हुआ कोई पुराना एक वस्त्र मुझे दे दीजिये।' मिश्रजी विवश हो गये, अन्तमें वे अपने घरमेंसे एक पुरानी धोती निकाल लाये। सनातनजीने उसे फाड़कर दो टुकड़े कर लिये। एकमेंसे तो साफी और लँगोटी बना ली, एक टुकड़ेको शरीरसे लपेट लिया। अब वे पूरे वैष्णव बन गये।

वह महाराष्ट्रीय ब्राह्मण भी आ पहुँचा। श्रीसनातनजीका परिचय पाकर उसने उनका निमन्त्रण किया। इसपर सनातनजीने कहा—'मैं एकके यहाँ अब भोजन न करूँगा, ब्राह्मणोंके घरोंसे मधुकरी माँगकर ही लाया करूँगा, आपके घरसे भी ले आऊँगा, आप मुझसे विशेष आग्रह न करें।' इसपर फिर किसीने सनातनजीसे आग्रह नहीं किया। वे

सनातन और चैतन्य

मधुकरी माँगकर उदरपूर्ति करने लगे। महाप्रभु इनके वैराग्यको देखकर मन-ही-मन बहुत सन्तुष्ट हुए। सनातनजी प्रभुके चरणोंके ही समीप रहने लगे।

सनातनजीके पास अपने बहनोईका दिया हुआ वह सफेद रंगका कम्बल अभीतक था। वह कम्बल बहुत ही बढ़िया और मुलायम था। उसकी ऊन बहुत ही चमकीली और रेशमसे भी बढ़िया थी। उसका मूल्य था तीन रुपये। उन दिनों तीन रुपयेके कम्बलको बहुत बड़े आदमी ही ओढ़ते थे। आजकल वह तीस-चालीस रुपयेका होगा। महाप्रभु बार-बार उस कम्बलकी ओर देखते।

बुद्धिमान् सनातनजी समझ गये कि महाप्रभुको मेरे पासका यह कम्बल भाता नहीं है। वे उसी समय गंगाजीके किनारे गये। वहाँ एक साधुने अपनी फटी-सी गुदड़ी गङ्गाजीमें धोकर सुखाने डाल दी थी। सनातनजी उसके पास पहुँचकर कहने लगे—'भाई, तुम मेरा इतना उपकार करो, मेरे इस कम्बलको ले लो और अपनी यह गुदड़ी मुझको दे दो।'

साधुने आश्चर्यचकित होकर कम्बलकी ओर देखते हुए कहा—'महाराज, आप मुझ गरीबसे हँसी क्यों करते हैं? मेरी गुदड़ी फट गयी है, कहींसे दूसरी खोजूँगा।'

सनातनजीने बड़े ही स्नेहसे कहा—'भाई, तुम हँसी मत समझो, मैं सच-सच कहता हूँ, यदि इस कम्बलके बदलेमें तुम अपनी गुदड़ी दे दो, तो मेरे ऊपर तुम्हारा बड़ा ही उपकार हो।'

साधुने कहा—'आप इस इतने कीमती कम्बलको फटी गुदड़ीके बदलेमें क्यों देना चाहते हैं?'

सनातनजीने कहा—'इसमें एक रहस्य है, तुम मुझे दे दो, मुझे ऐसी ही गुदड़ीकी जरूरत है।' साधुने प्रसन्नतापूर्वक गुदड़ी दे दी। उसे प्रसन्नतापूर्वक ओढ़े हुए सनातनजी चन्द्रशेखरके घर पहुँचे। सनातनजीपर कम्बल न देखकर प्रभु समझ तो गये कि ये कम्बलको फेंककर कहींसे फटी गुदड़ी ले आये हैं, किन्तु फिर भी अनजानकी भाँति पूछने लगे—'सनातन! तुम्हारा वह कम्बल नहीं दीखता, उसे कहाँ रख दिया?'

कुछ लज्जितभावसे सनातनजीने कहा—'प्रभो! जब आपकी असीम कृपा है, तब विषयरूपी वह कम्बल बच ही कैसे सकता है? वह तो आपकी कृपाके वेगमें मेरे पूर्वकृत पापोंके सहित बह गया।'

महाप्रभु बड़े सन्तुष्ट हुए और धीरे-धीरे कहने लगे—'सनातन! जो सद्वैद्य होता है, वह रोगीके अच्छा होनेपर भी कुछ दिन और ओषधि देता है, थोड़ा भी रोग शरीरमें रह जायगा, तो फिर धीरे-धीरे वह बढ़ने लगेगा। इसलिये बुद्धिमान् वैद्य रोगके अंशको भी रहने नहीं देता! तुमने सब कुछ त्यागा, तिसपर भी सुन्दर कम्बलकी क्षुद्र-सी वासना बनी ही रही। भिक्षाके टुकड़े माँगकर खाना और फिर तीन रुपयेका भूटिया कम्बल ओढ़ना—यह शोभा नहीं देता।'

महाप्रभुकी अपार अनुकम्पाको स्मरण करके सनातनजी गद्गद हो उठे, उनका गला भर आया, वे प्रभुके पैर पकड़कर रुदन करने लगे। प्रभुने उन्हें उठाकर छातीसे चिपटा लिया। सभी उपस्थित भक्त श्रीसनातनजीके अद्भुत वैराग्यकी और महाप्रभुकी अपार भक्तवत्सलताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

श्रीसनातनको शास्त्रीय शिक्षा

अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने।
त्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः॥*

(चु० र० भा० १।१)

महाप्रभुकी असीम कृपा प्राप्त हो जानेपर श्रीसनातनजीको प्रभुसे कुछ शास्त्रीय प्रश्न पूछनेकी जिज्ञासा हुई। उन्होंने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए कहा—'प्रभो! मैं साधनविहीन परमार्थ-पथसे अनभिज्ञ और संसारी विषयी लोगोंका संसर्ग करनेवाला परमार्थ-सम्बन्धी प्रश्न करना भी नहीं जानता। अतः जिस प्रकार आपने ही दया करके विषयोंमें आसक्त हुए हम पशुओंको घर जाकर सोतेसे जगा दिया, उसी प्रकार अब हमारे इस पशुपनेको मेटकर मनुष्यता प्रदान कीजिये, हमारे योग्य जो शिक्षा उचित समझें वही मुझे दीजिये। हम कौन हैं? हमारा क्या कर्तव्य है? भगवान्‌के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? भगवान्‌का क्या स्वरूप है आदि सभी बातोंको मुझे संक्षेपमें समझा दीजिये।'

प्रभुने कहा—'सनातन! तुमपर भगवत्-कृपा है। तुम्हें शंका ही क्या हो सकती है? तुम जानते हुए भी लोककल्याणके निमित्त ये प्रश्न कर रहे हो। अस्तु, साधु पुरुषोंका यह स्वभाव ही होता है। उनकी सभी चेष्टाएँ जगत्-हितके ही निमित्त होती हैं, पूछो तुम क्या पूछना चाहते हो?'

---

* जो सदा अपनेमें ही स्थित रहते हैं, जो नित्य हैं, जिन्होंने पापोंका नाश कर दिया है, जिनके लिये कोई विधि-निषेधका विभाग नहीं है ऐसे ज्योतिःस्वरूप श्रीचैतन्य प्रभुको हमारा प्रणाम है।

'प्रभो ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि जीवोंमें जो यह विभिन्नता प्रतीत होती है, वह क्यों होती है ?'

प्रभुने कहा—'सनातन ! शास्त्रोंमें मुक्त, नित्य, मुमुक्षु और बद्ध ये चार प्रकारके जीव बताये हैं । सनक-सनन्दनादि ये मुक्त जीव हैं, इन्हें संसारमें रहते हुए भी संसार-बन्धन कभी ब्याप नहीं सकता । ये अहर्निश श्रीकृष्ण-संकीर्तनमें ही संलग्न रहते हैं । मनु, प्रजापति, इन्द्र और सप्तर्षि आदि सभी नित्य जीव हैं, सृष्टिके निमित्त ये सदा क्रियाशील बने रहते हैं । जो इस अनित्य संसारके नश्वर और क्षणभङ्गुर भोगोंको छोड़कर प्रभुपादपद्मोंका आश्रय ग्रहण करना चाहते हैं वे मुमुक्षु जीव हैं । उनमें प्रायः सभी परमार्थ पथके पथिकोंकी गणना हो सकती है । इनके अतिरिक्त जो स्वभावके ही अनुसार जन्मते और मरते रहते हैं, जिन्हें कर्तव्या-कर्तव्यका विवेक नहीं, वे बद्ध जीव कहाते हैं । विषयोंमें फँसे हुए अज्ञानी पुरुष, पशु, पक्षी आदि सभी जीव इसी श्रेणीमें हैं, वे साधन-भजन नहीं कर सकते । उन्हींके लिये कहा है—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।

शास्त्रोंमें जीवोंकी चौरासी लाख योनियाँ बतायी गयी हैं । भगवत्-पादपद्मोंसे पृथक् होकर प्राणी इन नाना योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है । चिरकालसे भगवत्-विच्छेद होनेके कारण इसकी वृत्ति बहिर्मुख हो गयी है, यह मायापतिको भूलकर मायाके बन्धनमें पड़ गया है और भगवान्‌की अत्यन्त ही दुरूह गुणमयी दैवी माया उसे नाना योनियोंमें घुमाती रहती है ।'

सनातनजीने पूछा—'प्रभो ! इस मायासे छुटकारा कैसे हो ? जब जीव मायाके अधीन ही होकर घूमता है, तब तो उसके निस्तारका कोई उपाय ही नहीं ।'

प्रभुने कहा—'हाँ, उपाय है और एक ही उपाय है। जो मायाको छोड़कर मायापतिकी शरणमें जाय उसकी माया छूट जाती है।'

सनातन—'प्रभो! मैं यही तो पूछ रहा हूँ, मायापतिकी शरणमें कैसे जाया जाय?'

प्रभुने कहा—'भाई, इसमें तो कृपा ही मुख्य मानी गयी है—(१) शास्त्रकृपा, (२) गुरुकृपा और (३) परमात्मकृपा—ये तीन ही कृपा मुख्य हैं। इन तीनोंमेंसे किसीकी भी कृपा होनेसे मनुष्यके संसारी बन्धन ढीले हो सकते हैं और वह प्रभुकी ओर अग्रसर हो सकता है।'

सनातन—'प्रभो! मैं यह जानना चाहता हूँ, यह जीव प्रभुसे विमुख होकर क्यों नाना योनियोंमें भटकता फिरता है। पृथिवीपर तो दुःख-ही-दुःख है। स्वर्गादि लोकोंमें तो सुख भी होगा, किन्तु वहाँ भी जीवको शान्ति नहीं, इसकी अन्तिम शान्ति कहाँ जाकर होती है?'

प्रभुने कहा—'सनातन! चींटीसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी जीव मायाके गुणोंसे आबद्ध हैं। स्वर्ग क्या, ब्रह्मलोकतक शान्ति नहीं, परम शान्ति तो प्रभुके पादपद्मोंमें पहुँचनेपर ही प्राप्त हो सकती है।'

सनातन—'प्रभो! ब्रह्माजीको तो शान्ति होगी, वे तो चराचर जगत्के ईश्वर हैं, उनके लिये क्या दुःख! वे तो सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करते हैं।'

प्रभुने हँसकर कहा—'सनातन! ईश्वर तो वे ही एक श्रीकृष्ण हैं। न जाने कितने असंख्य ब्रह्मा इस विश्वमें प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं।'

आश्चर्यके साथ सनातनजीने कहा—'प्रभो! यह आपने कैसी बात कही? सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके ईश्वर ब्रह्माजी तो अकेले ही हैं। ब्रह्मा असंख्यों हैं, यह बात मेरी समझमें नहीं आयी। इसे समझनेकी मेरी इच्छा है।'

प्रभुने बड़े ही स्नेहसे कहा—अच्छा, तुम यों समझो। जिस काशीपुरीमें तुम बैठे हो ऐसी पुण्य और पापनाशिनी सात पुरी इस भारतवर्षमें हैं। और लाखों नगर हैं, ऐसे-ऐसे नौ खण्डोंवाला यह जम्बूद्वीप है, उन खण्डोंके नाम-(१) भारतवर्ष, (२) किम्पुरुषवर्ष, (३) हरिवर्ष, (४) कुरुवर्ष, (५) हिरण्मयवर्ष, (६) रम्यकवर्ष, (७) इलावृतवर्ष, (८) भद्राश्ववर्ष और (९) केतुमाल्यवर्ष—ये हैं। इन खण्डोंवाले द्वीपको ही जम्बूद्वीप कहते हैं। जम्बूद्वीपसे दुगुना शाकद्वीप है, शाकद्वीपसे दुगुना शाल्मलीद्वीप और उससे दुगुना कुशद्वीप है, कुशद्वीपसे दुगुना क्रौञ्चद्वीप, क्रौञ्चद्वीपसे दुगुना प्लक्षद्वीप और प्लक्षद्वीपसे दुगुना पुष्करद्वीप है। इस प्रकार पृथिवीपर सात द्वीप और सात समुद्र हैं। कलियुगवाले पुरुष पूरे जम्बूद्वीपको ही समझनेमें समर्थ नहीं हो सकते। ये क्षारसागरका ही पार नहीं पाते फिर दधि, घृत, मधु, क्षीरसागरको तो ये समझ ही क्या सकते हैं। एक-एक द्वीपके बाद एक-एक समुद्र है। जम्बूद्वीप सबसे छोटा द्वीप है। पृथिवी-पर ये सात द्वीप हैं, इसीलिये पृथिवी सप्तद्वीपा कही जाती है। इसे भूलोक भी कहते हैं। इसी प्रकार भूसे भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य —ये छः लोक ऊपर हैं और तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, पाताल और रसातल—ये सात लोक नीचे हैं। इन प्रत्येक लोकोंमें अनेक छोटे-छोटे लोक हैं। स्वर्गमें ही देख लो, असंख्यों लोक हैं। रात्रिमें ये जो असंख्य तारे चमकते हैं, ये सब स्वर्गके पृथक्-पृथक् लोक हैं। इनमें भी पृथिवीकी तरह असंख्यों जीव हैं। चन्द्रलोक, भौमलोक, बुधलोक, सूर्यलोक-जैसे असंख्यों लोक स्वर्गमें हैं। उन्हें सूर्यके प्रकाशकी भी अपेक्षा नहीं रहती। वे सब अपने-अपने प्रकाशोंसे प्रकाशित होते हैं। लाखों, करोड़ों नहीं असंख्यों लोक इतने बड़े हैं कि जिनके सामने सूर्यका प्रकाश जुगनू (पटबीजने) की भाँति प्रतीत होता है। ये सभी लोक स्वर्गमें ही बोले जाते हैं। स्वर्गलोकसे ऊपर महर्लोक है, उसमें भी असंख्यों जीव हैं।

इसी प्रकार जन, तप और सत्यलोकमें असंख्यों छोटे-छोटे स्वतन्त्र लोक हैं। नीचेके सात लोकोंमें भी स्वर्गके समान सुख है। नरकके लोक भी वहीं हैं और नरक भी लाखों प्रकारके हैं। इन चौदह लोकोंके स्वामी ब्रह्माजी हैं, ब्रह्मलोक सबसे श्रेष्ठ है। यह चौदह लोकोंवाला ब्रह्माजीका अण्ड है इसी-लिये ब्रह्माण्ड कहते हैं। इस ब्रह्माण्डके स्वामी सदा एक ही ब्रह्मा नहीं होते। सौ वर्षके पश्चात् वे बदल जाते हैं। वे सौ वर्ष भी हमारे नहीं, ब्रह्माजीके अपने सौ वर्ष।

सनातन—'प्रभो! मैं ब्रह्माजीके वर्षका परिमाण जानना चाहता हूँ। ब्रह्माजीका एक वर्ष हमारे वर्षोंसे कितने दिनका होता है?'

प्रभुने कहा—'अच्छा तुम हिसाब लगाओ। जो किसी प्रकार भी न दीखे और जिसके किसी तरह भी विभाग न हो सकें, उसे 'परम अणु' कहते हैं। दो परमाणुओंका 'एक अणु' होता है, तीन अणुओंका एक 'त्रसरेणु' होता है। हाँ, 'त्रसरेणु' दीखता है। झरोखेमेंसे सूर्यके प्रकाशके साथ जो छोटे-छोटे कण उड़ते-से दीखते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं। वह इतना हलका होता है कि उसका पृथिवीपर गिरना असम्भव है, वह आकाशमें ही घूमा करता है और सूर्यके प्रकाशके साथ झरोखेमेंसे दीखता है। जितनी देरमें तीन 'त्रसरेणु' को उलंघन करके सूर्य आगे बढ़े उस कालको 'त्रुटि' कहते हैं। ऐसी-ऐसी तीन सौ त्रुटियोंका एक 'बोध' होता है। तीन बोधका एक 'लव' और तीन लवका एक 'निमेष' माना जाता है। तीन निमेषका एक क्षण और पाँच क्षणके कालको 'काष्ठा' कहते हैं। पन्द्रह काष्ठाका एक 'लघु' और पन्द्रह लघुकी एक 'घड़ी' होती है। दो घड़ीका एक 'मुहूर्त' और छः या सात (दिनके घटने-बढ़नेके कारण) घड़ी होनेपर मनुष्योंका एक 'पहर' होता है। चार पहरका 'दिन' और चार पहरकी 'रात्रि' होती है इसलिये आठ पहरकी एक दिन-रात्रि मानी गयी है। ऐसे सात दिन-रात्रिका एक 'सप्ताह' और पन्द्रह दिनोंका एक पक्ष होता है। शुक्ल

और कृष्ण-भेदसे 'पक्ष' दो हैं। दो पक्षका एक 'मास' होता है। दो मासकी एक 'ऋतु' और तीन ऋतुओंका एक 'अयन' होता है। उत्तरायण और दक्षिणायनके भेदसे अयन दो हैं। इसलिये दो अयनोंका मनुष्योंका एक 'वर्ष' होता है। उत्तरायणको 'देवताओंका दिन' और दक्षिणायनको 'देवताओंकी रात्रि' समझनी चाहिये। अर्थात् जिसे हम वर्ष कहते हैं, वह 'देवताओंका एक दिन' ही होता है। देवताओंके तीन सौ साठ दिनोंका एक देव-वर्ष होता है, जिसे 'दिव्य वर्ष' कहते हैं। देवताओंके वर्षोंसे चार हजार वर्षका सत्ययुग, तीन हजार वर्षका त्रेता, दो हजार वर्षका द्वापर और एक हजार वर्षका कलियुग होता है। एक युग बीतनेके पश्चात् फौरन ही दूसरा युग नहीं लग जाता, इसलिये उसके आगे-पीछेके समयको सन्धि और सन्ध्यांश कहते हैं। दिव्य वर्षोंसे सत्ययुगका आठ सौ वर्ष, त्रेताका छः सौ वर्ष, द्वापरका चार सौ वर्ष और कलियुगका दो सौ वर्ष सन्धि-सन्ध्यांश काल माना गया है। चार युगोंको मिलाकर 'चौकड़ी' कहते हैं। देवताओंके बारह हजार वर्षों (अर्थात् मनुष्योंके तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष) की एक 'चौकड़ी' होती है। ऐसी चौकड़ी जब ७१ बीत जाती हैं, तब एक 'मन्वन्तर' होता है। एक मन्वन्तरके समाप्त होते ही पिछले इन्द्र, मनु, सप्तर्षि आदि बदल जाते हैं और नये बनाये जाते हैं। ऐसे चौदह मन्वन्तर बीत जाते हैं, तब 'ब्रह्माजीका एक दिन' होता है और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। उनके एक दिनमें चौदह इन्द्र और चौदह मनु बदल जाते हैं। ब्रह्माजीके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं। दिनमें वे सृष्टिका काम करते रहते हैं, रात्रिमें सब सृष्टिका संहार करके उसे अपनेमें लीन करके सो जाते हैं, दिन होते ही फिर काममें लग जाते हैं। जिस प्रकार दूकानदार दिनमें तो बाहर भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ फैलाकर बैठता है और रात्रिमें सबको समेट करके दूकानमें बन्द कर देता है, प्रातःकाल फिर ज्यों-का-त्यों पसारा फैला देता है, इसी प्रकार ब्रह्माजी रोज व्यापार करते रहते हैं। ब्रह्माजी-

के तीन सौ साठ दिनोंका 'ब्रह्मवर्ष' होता है। ऐसे वर्षोंसे एक ब्रह्माकी आयु सौ वर्षकी होती है। कल्पमें तो तीन ही लोकोंका नाश होता है। ब्रह्माजीकी आयुके बाद इस चौदह भुवनवाले ब्रह्माण्डका ही नाश हो जाता है, इसे 'महाप्रलय' कहते हैं। तब ब्रह्माजी ब्रह्मलोकके मुक्त पुरुषोंके साथ भगवान्‌के शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं, फिर नये ब्रह्मा होते हैं।'

प्रभुके मुखसे ब्रह्माजीकी आयु सुनकर परम विस्मित हुए सनातनजीने पूछा—'प्रभो! यह तो महान् आश्चर्यकी बात है! इसे सुनकर तो बड़ा भारी वैराग्य होता है। इस हिसाबसे तो हमारी आयु कुछ भी नहीं, जिसे हम सौ वर्षकी परमायु मानते हैं, वह ब्रह्माजीके एक क्षण क्या 'लव' के भी करोड़वें अंशके बराबर नहीं। इसीपर यह मूर्ख प्राणी इतना गर्व करता है।'

प्रभुने उत्तेजितभावसे उल्लासके साथ उत्तर दिया। उस समय सनातनको बताते-बताते उनका चेहरा चमक रहा था, आँखोंसे प्रसन्नताकी किरणें जोरोंसे निकल-निकलकर सनातनजीके शरीरमें प्रवेश कर रही थीं। प्रभुने कहा—'सनातन! यह प्राणी जब समझता नहीं, तभी तो मायामें फँसकर अपनी क्षुद्र परिधिको ही सब कुछ समझता है। कूपका मेंढक समुद्रका क्या अनुमान लगा सकता है? उसके लिये तो कुँएसे बढ़कर दूसरा कोई समुद्र ही नहीं। तुम प्रत्यक्ष देखते हो। जिसे तुम अपना एक दिन कहते हो, उसीमें लाखों ऐसे जीव हैं जो अनेकों बार मर जाते हैं और अनेकों बार नया जन्म धारण कर लेते हैं। तुम्हारा एक दिन ही हुआ, उनके अनेक जन्म बीत गये। देवता और ब्रह्माजीके सामने हमारी आयु तो भुनगोंके समान है। इस विषयमें सभी पुराणोंमें बड़ा ही सुन्दर विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। पुराणोंमें इसीके समझानेके लिये एक अत्यन्त ही मनोहर कथा आती है।

सत्ययुगमें रैवत नामके एक बड़े ही पराक्रमी और सर्वशक्तिमान् राजा थे। ब्रह्माजीके वरदानसे वे सभी लोकोंमें जा-आ सकते थे। सत्ययुगके मनुष्य आजकलसे चौगुने लम्बे होते हैं। उनके एक रेवती नामकी कन्या थी, वह साधारण लड़कियोंकी अपेक्षा कुछ अधिक लम्बी थी। बहुत खोजनेपर भी महाराजको उसके योग्य कोई वर नहीं मिला। तब उन्होंने सोचा—'चलो, ब्रह्माजीसे ही पूछ आवें कि हम इस लड़कीका विवाह किसके साथ करें। दो-चार राजकुमार अच्छे तो हैं, उनमेंसे कौन-सा सर्वश्रेष्ठ होगा, इस बातका निर्णय ब्रह्माजीसे ही करा लावें।' यह सोचकर वे अपनी लड़कीको साथ लेकर ब्रह्मलोकमें पहुँचे। उस समय ब्रह्माजी अनेक देवता, ऋषि और अन्य लोकोंके देवोंसे घिरे हुए 'हाहा, हूहू' का गान सुन रहे थे। महाराज रैवत भी प्रणाम करके चुपचाप एक ओर बैठ गये। आधी घड़ीके पश्चात् गायन समाप्त हो गया, तब पितामह ब्रह्माजीने हँसते हुए राजा रैवतसे पूछा–'कहो, भाई, कैसे आना हुआ?'

हाथ जोड़े हुए दीनभावसे महाराजने कहा—'भगवन्! आपके श्रीचरणोंके दर्शनोंके निमित्त चला आया। सोचा था, इस लड़कीके पतिके सम्बन्धमें आपसे पूछूँगा। आप जिसके लिये आज्ञा करेंगे, उसे ही दे दूँगा।'

मुस्कुराकर भगवान् ब्रह्मदेवजीने कहा—'तुम्हीं बताओ, तुम्हें कौन-सा राजकुमार बहुत पसन्द है?'

कुछ सोचकर महाराजने कहा—'प्रभो! अमुक राजकुमार मुझे सबसे अधिक अच्छा लगता है, फिर आप जिसके लिये आज्ञा करेंगे उसे ही इसे दूँगा। आपकी आज्ञा ही लेने तो आया हूँ।'

इतना सुनते ही भगवान् ब्रह्माजी अपनी सफेद दाढ़ीको हिलाते हुए बड़े ही जोरोंसे हँसने लगे और बोले—'राजन्! जिस राजकुमारका

तुम नाम ले रहे हो, वह कुल तो कबका नष्ट हो गया। तुम्हें पता नहीं इस आधी घड़ीके समयमें ही पृथिवीपर तीसों बार सत्ययुग, त्रेता और द्वापर बीत गये। अब तो उन वंशोंका नाम-निशान भी नहीं रहा। तुम्हारी पुरीको अन्य राजाओंने अपनी राजधानी बना लिया। अब तो वहाँ कलियुग आ रहा है। तुम इसी समय जाओ, व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णजीके बड़े भाई शेषजीके अवतार बलरामजी अवतीर्ण हुए हैं, जाकर इस कन्याको उन्हें ही दे दो, वे सब ठीक कर लेंगे।' भगवान् ब्रह्मदेवजीकी आज्ञा शिरोधार्य करके और उनके चरणोंमें प्रणाम करके महाराज पृथिवीपर आये और रेवतीजी श्रीबलरामजीको देकर वे पहाड़पर तपस्या करने चले गये। इधर बलरामजीने अपनी पत्नीको बहुत लम्बी देखकर उसके गलेमें अपना हल डालकर नीचे खींचकर अपने बराबर बना लिया।

सनातनजीने कहा—'प्रभो! बड़े आश्चर्यकी बात है। ब्रह्माजी भी स्थायी नहीं रहते। इस जगत्के एकमात्र स्वामीकी भी अन्तमें यह गति होती है।'

प्रभुने कहा—'जो उत्पन्न हुआ है, उसका अन्त अवश्य होगा चाहे आज हो या कल। हाँ, मैं तुम्हें यह बता रहा था कि जैसा यह चौदह लोकवाला ब्रह्माण्ड है, वैसे असंख्य ब्रह्माण्ड इस विश्वमें हैं और उनके स्वामी असंख्य ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। जैसे गूलरके पेड़पर असंख्य गूलरके फल लगे रहते हैं, इसी प्रकार विश्वमें अनन्त गूलरके समान ब्रह्माण्ड लटके हुए हैं। ब्रह्माण्डके समस्त प्राणी गूलरके भीतरके भुनगों-के समान हैं। महाविष्णुकी नाभिकमलमेंसे ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं और वे सृष्टि करने लग जाते हैं। असंख्य ब्रह्मा गंगाजीके प्रवाहकी तरह निकल-निकलकर सृष्टिमें प्रवृत्त होते हैं। उनके नीचे साँस लेनेसे ब्रह्माण्डों-का नाश होता है, ऊपर साँस लेनेसे ब्रह्माजीके सहित ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो

जाता है । इसी व्यापारका नाम संसारचक्र है । कुम्हारके चक्रके समान यह संसारचक्र घूमता रहता है, इसीसे लोकोंकी सृष्टि होती रहती है ।'

सनातनजीने परमवैराग्यके स्वरमें कहा—'प्रभो ! इस चक्रसे छुटकारा पानेका उपाय बताइये ?'

प्रभुने कहा—'श्रीकृष्ण इस चक्रसे एकदम पृथक् हैं । उन्हें संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयसे कुछ काम नहीं । इसे तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि करते रहते हैं । वे तो नित्य ही गोपियोंके साथ आनन्दमें रासक्रीड़ा करते रहते हैं । वे वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी इधर-उधर नहीं जाते । इसलिये सर्वात्मना और सर्वभावसे उन्हींकी शरण जानेसे इस चक्रसे मुक्ति हो सकती है ।'

सनातन—'प्रभो ! मैं उपाय जानना चाहता हूँ ।'

प्रभुने कहा—'सनातन ! मैंने कह तो दिया । वे तपसे, जपसे, योग-यज्ञसे तथा पाठ-पूजासे प्रसन्न नहीं होते, उनकी प्रसन्नताका एकमात्र साधन अनन्य होकर उनकी भक्ति करना ही है । बिना प्रेमाभक्तिके कोई उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता । जिसे वे अपना कहकर वरण कर लेते हैं, उसे अपनी गोपी या सखी बनाकर अपनी लीलामें सम्मिलित कर लेते हैं । सखी बने बिना उनकी क्रीड़ाका दूसरा कोई अनुभव कर ही नहीं सकता । सखी कोई स्वयं थोड़े ही बन सकता है । जो अपने पुरुषार्थसे उनकी क्रीड़ामें सम्मिलित होनेका अभिमान करते हैं, वे उनतक कभी नहीं पहुँच सकते । जब अनन्य होकर, दीन होकर, निराश्रय होकर सभी प्रकारके पुरुषार्थोंका परित्याग करके केवलमात्र उन्हींका आश्रय ग्रहण किया जाय तब कहीं उस ओर पैर बढ़ानेका अधिकार प्राप्त हो सकता है ।'

सनातन—'प्रभो ! अनन्यता कैसे प्राप्त हो, भक्तिका अङ्कुर कैसे हृदयमें उत्पन्न हो ?'

प्रभुने कहा—'सनातन ! अनन्यता प्राप्त करनेका सर्वोत्तम एक ही उपाय है, जैसा कि परमहंसशिरोमणि जडभरतजीने राजा रहूगणसे कहा है—

> रहूगणैतत्तपसा न याति
>
> न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
>
> न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
>
> र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
>
> (श्रीमद्भा० ५ । १२ । १२)

भगवान् जडभरत कहते हैं—'राजन् रहूगण ! महात्माओंकी चरणरजमें लोटे बिना भगवत्-कृपाकी प्राप्ति तपसे, यज्ञसे, दानसे, घर-द्वार छोड़ देनेसे, वेदोंके पढ़नेसे, जल, अग्नि या सूर्यके सेवन करनेसे नहीं हो सकती ।' उसकी प्राप्तिका एक ही साधन है, श्रद्धापूर्वक परम समर्थ भगवद्भक्त साधु पुरुषोंकी चरणधूलिमें लोटा जाय। उसे मस्तकपर धारण किया जाय, यही एकमात्र उपाय है । साधु-सेवाके बिना जो भगवत्कृपाका अनुभव करना चाहता है, वह मानों बिना नौका या जहाजके ही अपार सागरको हाथोंसे तैरकर उस पार जाना चाहता है । इसी बातको लक्ष्य करके भक्तराज प्रह्लादजीने अपने पिता हिरण्यकशिपुसे कहा है—

> नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
>
> स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
>
> महीयसां पादरजोऽभिषेकं
>
> निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥
>
> (श्रीमद्भा० ७ । ५ । ३२)

हे तात ! जिनके हृदयसे विषयोंका विकार एकदम दूर हो गया है, ऐसे परमपूजनीय भगवद्भक्तोंकी चरणरजसे जबतक मनुष्य भली-भाँति सिरसे पैरतक स्नान नहीं करता तबतक वेदवाक्योंसे उत्पन्न हुई भी उसकी बुद्धि उसे प्रभुके पादपद्मोंके समीप पहुँचानेमें एकदम असमर्थ होती है। अर्थात् बिना भगवद्भक्तोंकी चरणधूलि मस्तकपर धारण किये कोई भी पुरुष श्रीकृष्णपादपद्मोंके स्पर्श करनेके निमित्त आगे नहीं बढ़ सकता। तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंकी जबतक श्रद्धाके साथ, भक्तिके साथ प्रेमपूर्वक सेवा नहीं की जाती, उनके चरणोंमें जबतक स्वाभाविक स्नेह नहीं होता, तबतक यह भगवत्-कथा श्रवण करनेका भी अधिकारी नहीं होता। भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश करते हुए गीतामें स्वयं ही कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थात् 'हे अर्जुन ! तू दण्डवत्-प्रणाम-सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। (विनीतभावसे पूछनेपर) वे तत्त्वदर्शी महात्मागण तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

उपदेशका वही अधिकारी है, जिसके हृदयमें देवता, द्विज, गुरुजन और भगवत्-भक्तोंके प्रति श्रद्धाके भाव हैं। जो इनमें श्रद्धाके भाव नहीं रखता, वह परमार्थकी ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता। फिर प्रभुकृपाका अधिकारी तो बन ही कैसे सकता है ? सनातन ! बहुत बातोंमें क्या रक्खा है, मैं तुझे सारातिसार बताता हूँ। प्राणिमात्रका परमपुरुषार्थ श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति करना ही है। परम आराध्य वे ही श्रीनन्दनन्दन वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रजी हैं। अपने सभी पुरुषार्थोंका आश्रय छोड़कर अनन्यभावसे व्रजांगनाओंकी भाँति संसारी सम्बन्धोंसे मुख मोड़कर पतिभावसे उनकी आराधना करना यही उपासनाकी

उत्तम-से-उत्तम प्रणाली है और पठनीय शास्त्रोंमें श्रीमद्भागवत ही सर्वोपरि शास्त्र है। क्योंकि इसे भगवान् व्यासदेवने सभी पुराणोंके अनन्तर जिस प्रकार दहीको मथकर उसमेंसे सारभूत मक्खनको निकाल लेते हैं, उसी प्रकार सर्व शास्त्रोंको मथकर उनका सार निकाला है। बस, यही कल्याणका मार्ग है। इसे तुम मेरे मतका सार समझो। इससे अधिक कोई किसी बातका आग्रह करे तो उसे तुम अन्यथा समझना*। मेरे इस ज्ञानको हृदयमें धारण करो। साधु-महात्मा-सन्त तथा भगवद्भक्तोंके चरणोंमें दृढ़ अनुराग रक्खो। वे कैसे भी हों उनकी निन्दा कभी मत करो। सबको ईश्वरबुद्धिसे नम्र होकर प्रणाम करो। तुम्हारा कल्याण होगा, मैं तुम्हें हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ। मेरे इस अमल-विमल शास्त्रसम्मत ज्ञानका तुम विस्तारके साथ भक्तिके ग्रन्थोंमें वर्णन करना। मङ्गलमय भगवान् तुम्हारा मङ्गल करेंगे।' इतना कहकर महाप्रभु चुप हो गये।

महाप्रभुके चुप हो जानेपर सनातनजीने भक्तिभावके सहित महाप्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और महाप्रभुने उनके शरीरपर हाथ फेरते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया। इस प्रकार दो महीनोंतक महाप्रभुके समीप काशीमें रहकर सनातन भाँति-भाँतिके शास्त्रीय प्रश्न पूछते रहे और प्रभु उन्हें प्रेमपूर्वक सभी गुप्त तत्त्व समझाते रहे। इन दो महीनोंमें ही सनातनजीने प्रभुसे बहुत-सी भक्तिमार्गकी गूढ़ातिगूढ़ बातें समझ लीं, जिनका विस्तारके साथ उन्होंने अपने अनेकों ग्रन्थोंमें वर्णन किया है।

---

* आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नापरः॥

स्वामी प्रकाशानन्दजी मनसे भक्त बने

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः।
हठेन केनापि वयं शठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन ॥*
(श्रीकृष्णकर्णामृत)

श्रीपाद प्रकाशानन्दजीके नामसे तो पाठक पूर्व ही परिचित होंगे। इनकी जन्मभूमि तैलङ्ग देशमें थी। दक्षिण देशकी यात्राके समय श्रीरङ्ग-क्षेत्रके समीप बलगण्डी नामक ग्राममें महाप्रभुने वेङ्कट भट्टके यहाँ चातुर्मास व्यतीत किया था। वेङ्कट भट्ट श्रीवैष्णवसम्प्रदायके वैष्णव थे, उनके भक्ति-भावसे प्रसन्न होकर प्रभुने उनके घर चार मास निवास किया। उन्हींके पुत्र श्रीगोपाल भट्टने प्रभुकी बड़ी भारी सेवा की थी और पिताके परलोकगमनके अनन्तर ये प्रभुकी आज्ञानुसार घर-बार छोड़कर वृन्दावन वास करने चले गये थे और वहीं अन्ततक श्रीराधारमणजीकी सेवा-पूजामें लगे रहे।

श्रीगोपाल भट्टजीके पिता तीन भाई थे। सबसे बड़े तो इनके पिता श्रीवेङ्कट भट्ट, मध्यम त्रिमल्ल भट्ट और छोटे ये ही श्रीपाद प्रकाशानन्दजी

---

* अद्वैतमार्गके पथिकोंद्वारा उपास्य और आत्मानन्दसिंहासन-पर दीक्षा पाये हुए हमें गोपरमणियोंके किसी कुटिल कामुकने हठात् अपना दास बना लिया।

महाराज थे। संन्यासके पूर्व इनका घरका नाम क्या था, इसका पता अभीतक नहीं चला। ये संन्यासी हो जानेपर भी अपने भतीजे गोपाल भट्टसे अत्यधिक स्नेह रखते थे। ये जानते थे कि गोपाल एक होनहार युवक है, कालान्तरमें यह जगत्प्रसिद्ध पण्डित बन सकेगा, किन्तु जब उन्होंने सुना कि एक बङ्गाली युवक साधुके संसर्गसे गोपाल शास्त्रोंका पठन-पाठन छोड़कर 'कृष्ण-कृष्ण' रटने लगा है, तब उन्हें कुछ मानसिक दुःख भी हुआ और उनकी इच्छा उस युवक संन्यासीसे शास्त्रार्थ करनेकी हुई। प्रेमका आकर्षण कई प्रकारसे होता है। कभी तो किसीकी प्रशंसा सुनकर मन-ही-मन डाह होता है और उसके प्रति मनमें एक स्वाभाविक-सा स्नेह उत्पन्न हो जाता है। जिसके गुणोंसे हम डाह करते हैं, उसीके प्रति हृदयमें अपने-आप ही प्रेम उत्पन्न हो रहा है, इससे घबड़ाकर हम उस व्यक्तिकी खुल्लमखुल्ला निन्दा करने लगते हैं। इससे हम अपनी स्वाभाविक वृत्तिको दबाना चाहते हैं, किन्तु ऐसा करनेसे वह और भी अधिक उभरती है। द्वेषभावसे ही सही चित्त उससे मिलनेके लिये सदा व्याकुल-सा बना रहता है और उसका प्रसंग आनेपर रागवश उसके लिये दो-चार कड़वे शब्द अपने-आप ही मुँहसे निकल पड़ते हैं। प्रकाशानन्दजीका भी प्रभुके प्रति ऐसा ही अनुराग हो गया था। जब उन्होंने सुना कि जिस संन्यासीने हमारे भ्रातृपुत्र गोपालको बहकाया है, उसीने सार्वभौम भट्टाचार्य-जैसे परम विद्वान् पण्डितको अपने वशमें कर रक्खा है और वे उसे अवतार समझते हैं, इससे उनकी जिज्ञासा और बढ़ गयी। उसी जिज्ञासाके फलस्वरूप उन्होंने प्रभुके पास व्यंगपूर्ण पत्र भेजे थे, जिन्हें पाठक प्रथम ही पढ़ चुके होंगे।

अब जब उन्होंने सुना कि वही युवक संन्यासी यहाँ काशीमें आया है, तब तो वे किसी प्रकार प्रभुसे भेंट करनेकी बात सोचने लगे। किन्तु भेंट हो कैसे? प्रकाशानन्दजी काशीके प्रतिष्ठित पण्डित और

सम्माननीय संन्यासी थे। वे वहाँके मठधारी संन्यासियोंमें सर्वश्रेष्ठ संन्यासी समझे जाते थे। वे किसी अनजान संन्यासीके पास मिलने कैसे जाते? कोई वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध, प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित होते तो वे सम्भवतया चले भी जाते, परन्तु महाप्रभु युवक थे, उनकी दृष्टिमें वे भारी पण्डित भी नहीं थे, प्रसिद्धि भी उनकी इतनी नहीं थी, उन्होंने हेय सम्प्रदायके भारती संन्यासीसे दीक्षा ली थी, इस कारण अपनेको प्रसिद्ध पण्डित और प्रतिष्ठित समझनेवाले दण्डी संन्यासी प्रकाशानन्दजी प्रभुसे मिलने नहीं गये। यद्यपि प्रभुके निवासस्थानसे प्रकाशानन्दजीका मठ कोई बहुत दूर नहीं था। उनका मठ भी बिन्दुमाधवके समीप ही था और प्रभु भी उधर ही तपन मिश्रके यहाँ ठहरे हुए थे। प्रभुने स्वयं उनके पास जानेकी आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि महाप्रभु बड़े ही संकोची थे। बड़ोंके सामने बोलनेमें उन्हें बहुत संकोच होता था। इसलिये उन्होंने सोचा उनके पास जायँगे तो कुछ-न-कुछ वाद-विवाद छिड़ ही जायगा। इसलिये वे भी उनके पास नहीं गये और दस-बारह दिन ठहरकर श्रीवृन्दावनको चले गये।

वृन्दावनसे लौटकर प्रभु दो महीनोंतक काशीमें रहे। इस प्रवासमें प्रभु बहुत ही साधारण संन्यासीकी तरह रहते थे। वे न तो कहीं बाहर भिक्षाके लिये जाते थे और न संन्यासियोंके दर्शनोंको जाते। केवल चन्द्रशेखरके घरसे गंगास्नानको और विश्वनाथजीके दर्शनोंको जाते, और तपन मिश्रके घर भिक्षा करके वहीं भगवन्नाम-संकीर्तन और जप करते रहते। इसलिये उनके दो-चार अन्तरङ्ग भक्तोंको छोड़कर प्रभुकी महिमा किसीपर प्रकट नहीं हुई। प्रकाशानन्दजी मन-ही-मन सोचते—'सचमुच यह कोई अजीब ही संन्यासी है। हमारे साथ इतना परिचय होनेपर भी यह हमारे मठमें नहीं आता है और न संन्यासियोंकी सभामें सम्मिलित होता है। अवश्य ही कोई विलक्षण पुरुष है।'

जो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण प्रभुके चरणोंमें अत्यधिक अनुराग रखते थे, उनका घर श्रीप्रकाशानन्दजीके मठके समीप ही था। वे प्रायः उनके पास जाया-आया करते और उनकी यथाशक्ति द्रव्यादिसे सेवा-शुश्रूषा भी किया करते। जब-जब महाप्रभुका प्रसंग छिड़ता तभी तब प्रकाशानन्दजी प्रभुके ऊपर कटाक्ष करते और उनके लिये निन्दासूचक शब्दोंका प्रयोग भी कर बैठते। वैसे उनका हृदय सरस था। कवि-प्रकृतिके थे। भावुक थे। मिलनसार थे। प्रणयके ऐकान्तिक उपासक थे, किन्तु अभीतक उनकी भावुकताको अद्वैतवेदान्तकी प्रखर युक्तियोंने प्रच्छन्न कर रक्खा था। अभी-तक उनकी सरसता और प्रणयोत्सुकता प्रस्फुटित नहीं हुई थी। प्रायः देखा गया है कि ऐसे भारी विद्वानोंकी भावुकता किसी परम भावुक महापुरुषके संसर्गसे ही एकदम विकसित हो जाती है। ईसाके प्रधान शिष्य सेण्ट पाल पहले शुष्क और नास्तिक थे, जब उन्होंने ईसाको शूलीपर हँसते हुए चढ़ते देखा तब उनकी भावुकता एकदम फूट पड़ी और वे ही पीछेसे ईसाई धर्मके सर्वश्रेष्ठ प्रचारक हुए। स्वामी विवेकानन्द पहले नास्तिक प्रकृतिके घोर कुतर्की थे, परमहंस रामकृष्णदेवके हाथ फेरते ही न जाने उनकी नास्तिकता कहाँ भग गयी और अन्तमें वे ही भगवान् रामकृष्णदेवके मिशनको विश्वव्यापी बनानेवाले प्रधान पुरुष हुए। इसी प्रकार स्वामी प्रकाशानन्दजीकी भी ललित वृत्तियाँ श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनसे ही विकसित हुईं। अन्तमें उन्होंने श्रीचैतन्यके गुणगानमें इतनी सुन्दर कविता लिखी कि जिससे कठोर-से-कठोर भी हृदय द्रवीभूत हो सकता है। इनके बनाये हुए श्रीचैतन्यचन्द्रामृत काव्यकी जितनी भी प्रशंसा की जाय उतनी ही कम है। अस्तु।

उस महाराष्ट्रीय सज्जनने एक दिन बातों-ही-बातोंमें स्वामीजीसे कहा—'स्वामिन्! उन बंगाली वैद्यके यहाँ जो संन्यासी ठहरे हुए हैं, उनके चेहरेमें कितना भारी आकर्षण है। जो एक बार उन्हें देख लेता है

वही उनका बन जाता है। उनकी वाणीमें अपार करुणा है। भगवत्-गुण-गान करते-करते वे मूर्छित हो जाते हैं। एकदम तन्मय होकर श्रीकृष्णकथा कहते हैं।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'अरे, क्या हम उन्हें जानते नहीं हैं? खूब जानते हैं। वे कोई आकर्षण-मन्त्र जानते हैं, इसीसे तो उन्होंने सार्वभौम-जैसे विद्वान्‌को बहका लिया। ।किन्तु यहाँ उनकी दाल नहीं गलनेकी। इस विश्वनाथजीकी पुरीमें उनकी भक्तिको कोई दो कौड़ीमें भी न पूछेगा। यहाँ स्त्रियोंकी तरह नाचनेवाले न मिलेंगे। बङ्गालियोंकी तरह यहाँ भावुक और भोले-भाले अनपढ़ आदमी नहीं हैं। यहाँके भंगी-चमारतक ब्रह्मज्ञानकी बातें जानते हैं।' इस बातके सुननेसे उन महाराष्ट्रीय सज्जनको बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे—'इतने भारी विद्वान् और त्यागी पुरुषोंके हृदयमें भी डाहकी अग्नि इतनी प्रबल होती है। इतने ज्ञानी होनेपर भी लोग दूसरोंकी प्रशंसा नहीं सुन सकते। सचमुच प्रतिष्ठाकी इच्छा बड़ी ही प्रबल होती है। महान् पण्डित-से-पण्डित भी अपनी प्रतिष्ठा स्थापन करनेके निमित्त दूसरोंकी निन्दा करनेमें सङ्कोच नहीं करते। लोकैषणा कितनी प्रबल है!' दूसरे दिन दुखी चित्तसे उस भावुक सज्जनने प्रभुसे सभी बातें कहीं और वह करुणस्वरमें कहने लगा—'प्रभो! स्वामीजी कहते थे यहाँ उनकी भक्तिको कोई दो कौड़ीमें भी न पूछेगा।'

प्रभुने कहा—'हमें दो कौड़ियोंसे करना ही क्या है? मुफ्त तो कोई लेगा? हम तो वैसे ही लुटा देंगे! इसपर भी कोई न लेगा तो फेंककर चले जायँगे। कभी तो कोई उठा ही लेगा।'

प्रभुके ऐसे सरल और विद्वेषसे रहित उत्तरको सुनकर महाराष्ट्रीय सज्जनकी श्रद्धा प्रभुके चरणोंमें और भी अधिक बढ़ गयी और वे सोचने

लगे कि 'जब इनकी एक-एक बातका मेरे ऊपर इतना प्रभाव पड़ता है, तब यदि प्रकाशानन्दजीसे इनका साक्षात्कार हो जाय तब तो उनका उद्धार ही हो जाय। ये मूर्ख नहीं हैं, हठी नहीं हैं, सूखी तबीयतके नहीं हैं। प्रभुसे बातें करते ही ये पानी-पानी हो जायँगे और सभी निन्दा करना भूलकर इनके सेवक बन जायँगे, किन्तु भेंट हो तो कैसे हो ? ये यहाँ आवेंगे नहीं, प्रभु वहाँ जानेको राजी न होंगे।' वे सज्जन इसी चिन्तामें पड़ गये। अपने मनोगत भाव उन्होंने तपन मिश्र, चन्द्रशेखर तथा और भी दो-चार प्रभुके भक्तोंके सामने प्रकट किये। तपन मिश्रने कहा—'एक युक्ति हो सकती है। कोई सभी संन्यासियोंका निमन्त्रण करे और प्रभुसे भी वहाँ चलनेका बहुत आग्रह करे, तो प्रभु अपने प्रिय भक्तके आग्रहकी कभी अवहेलना न करेंगे, अवश्य ही चले जायँगे।'

यह सुनकर उस महाराष्ट्रीय सज्जनने जल्दीसे कहा—'इसके लिये मैं स्वयं तैयार हूँ। यह कौन-सी बड़ी बात है। किन्तु आप प्रभुको ले चलनेका जिम्मा लें।'

तपन मिश्रने कहा—'अजी हम सभी पैर पकड़ लेंगे, चलेंगे कैसे नहीं। तुम सभी ठीक करो।' वे सज्जन अच्छे धनिक थे। हजार-पाँच सौ रुपये खर्च करना उनके लिये कोई कठिन काम नहीं था, फिर ऐसे पुण्यकार्यका अवसर तो बड़े सौभाग्यसे मिलता है। इसलिये उन्होंने काशीके सभी मठोंके और विरक्त संन्यासियोंको निमन्त्रित किया। ठीक समयपर सभी संन्यासी अपने-अपने साथी और शिष्योंके सहित उस सज्जनके घरमें आ उपस्थित हुए। महाराष्ट्रीय सज्जनने सभीके बैठनेके लिये गद्दे, तकिये, गलीचे आदिका बड़ा ही सुन्दर प्रबन्ध किया था। मठधारी महन्त सभी बड़े-बड़े तकियोंके सहारे गलीचोंपर बैठ गये। उनके इधर-उधर उनके शिष्य बैठे हुए वेदान्तविषयक बातें करने लगे। कोई 'विवेक-चूडामणि'का श्लोक बोलता, तो कोई शाङ्करभाष्यकी

ही पंक्तिको बोल उठता और निर्विशेष ब्रह्मकी सिद्धिमें अपने सारे पाण्डित्यको खर्च कर देता। सबके बीचमें श्रेष्ठ आसनपर श्रीमत्प्रकाशानन्दजी सरस्वती बैठे हुए थे। उस समय दण्ड धारण किये हुए वे देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माजीके समान प्रतीत होते थे अथवा ऐसे मालूम होते थे जैसे नैमिषारण्यके पुण्यतीर्थमें शौनकजी अपने अठासी हजार शिष्योंके मध्यमें बैठे हुए उनकी शास्त्र-चर्चा सुन रहे हों। उसी समय वह महाराष्ट्रीय सज्जन प्रभुके समीप पहुँचे। प्रभुको निमन्त्रित तो पहलेसे ही कर रक्खा था। अब उन्होंने जाकर कहा—'प्रभो! सभी महात्मा आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

प्रभुने सङ्कोचयुक्त विवशताके स्वरमें कहा—'भैया, इतने बड़े-बड़े महात्माओंके बीचमें मुझे क्यों ले जाते हो? मैं वहाँ क्या करूँगा? तुम्हारे घर फिर किसी दिन भिक्षा कर आऊँगा।'

पैर पकड़े हुए अत्यन्त ही कातर वाणीसे रोते-रोते उन महाराष्ट्रीय सज्जनने कहा—'प्रभो! मैंने सारा आयोजन तो केवल आपके ही लिये किया है। आप न पधारेंगे तो मेरा सभी व्यर्थ हो जायगा। आप इस दीन-हीन कङ्गालके ऊपर कृपा अवश्य करें और अपनी पद-धूलिसे इस अधमके सदनको पावन कर इसे कृतार्थ करें।' उन सज्जनकी प्रार्थनाका सभीने समर्थन किया। भक्तवत्सल प्रभु सहमत हो गये और वे चलनेके लिये तैयार हुए। प्रभु सनातनजीके कन्धेपर हाथ रक्खे हुए थे। पीछे-पीछे चन्द्रशेखर, तपन मिश्र तथा दो-चार भक्त और भी चल रहे थे। घरके दरवाजेपर पहुँचकर प्रभुने सनातनजीके कन्धेसे हाथ हटा लिया, वे नीची दृष्टि किये हुए धीरे-धीरे घरमें पहुँचे। सेवक जल लेकर फौरन प्रभुके पैरोंको धोनेके लिये बढ़ा। प्रभुने सङ्कोचसे पैरोंको खींचते हुए स्वयं ही पैर धो लिये और वहीं अत्यन्त-नम्रतापूर्वक मोरीके पास ही कीचमें बैठ गये।

संन्यासी-मण्डलीमें सन्नाटा छा गया। शास्त्रार्थ करना सब भूल गये। सभी एकटकभावसे प्रभुकी ओर देखने लगे। तीस-बत्तीस वर्षकी

अवस्थाका एक परम तेजस्वी रूपलावण्ययुक्त युवक संन्यासी बिना किसी दिखावेके चुपचाप मोरीके पास बैठ गया है, इस बातसे सभीको परम आश्चर्य हुआ। प्रभुका शरीर बड़ा ही सुकुमार था, उनकी डाढ़ीमूँछें बहुत ही कम निकली थीं, वे भी एकदम मुँड़ी हुई थीं, इसलिये देखनेमें वे सोलह वर्षके-से बालक प्रतीत होते थे। उनके गुलाबकी पंखड़ियोंके समान दो छोटे-छोटे अरुण रंगके समान ओष्ठ दूरसे ही अपनी गाढ़ी लालिमाके कारण चमक रहे थे। प्रभु बिना किसीकी ओर देखे चुपचाप सिर झुकाये हुए बैठे थे। उपस्थित सभी संन्यासी कोई उँगलीके इशारेसे, कोई भृकुटीके सङ्केतसे, कोई बहुत ही हलकी आवाजसे प्रभुके ही सम्बन्धमें कुछ कहने लगे। प्रकाशानन्दजी इनके तेज, रूप-लावण्य, नम्रता, शालीनता और प्रभावको ही देखकर समझ गये कि ये ही महाप्रभु चैतन्यदेव हैं। किन्तु सबके सामने अपनी प्रतिष्ठाको बनाये रखनेके निमित्त उन्होंने गृहपति उन महाराष्ट्रीय सज्जनसे पूछा—'ये स्वामीजी कहाँसे आये हैं ?'

उन्होंने धीरेसे कहा—'ये ये ही बङ्गाली स्वामीजी हैं, जिनके सम्बन्धमें मैंने आपसे कहा था।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रकाशानन्दजीने कहा—'ओहो, ये ही श्रीकृष्णचैतन्य भारती हैं। इनकी प्रशंसा तो हम बहुत दिनोंसे सुन रहे हैं। आज इनके खूब दर्शन हुए। (प्रभुको लक्ष्य करके) आप वहाँ क्यों बैठ गये, यहाँ आइये। आपका वहाँ बैठना शोभा नहीं देता।'

प्रभुने सिरको नीचे किये हुए धीरेसे उत्तर दिया—'भगवन्! मैं हीन सम्प्रदायवाला हूँ, भला आपके बराबर कैसे बैठ सकता हूँ। यहीं ठीक बैठा हूँ।'

प्रकाशानन्दजी प्रभुकी सरलता और नम्रताको देखकर एकदम मन्त्र-मुग्ध-से हो गये। जब दो-तीन बार कहनेपर भी प्रभु अपने स्थानसे नहीं उठे तब तो प्रकाशानन्दजी स्वयं उठकर गये और प्रभुका हाथ पकड़कर

उन्हें अपने सामने ही गद्दीपर बिठा लिया। अत्यन्त ही सङ्कोचके साथ प्रभु विवशता-सी दिखाते हुए सिकुड़कर बैठ गये। प्रभु धीरे-धीरे भगवन्नामोंको उच्चारण कर रहे थे। भगवन्नाम-उच्चारणसे जिस प्रकार वायुके लगनेसे कमलकी पँखुड़ियाँ हिलती हैं, उसी प्रकार उनके बिम्बाफलके समान दोनों अधर हिल रहे थे। कुछ बातें करनेकी इच्छासे प्रसङ्ग छेड़ते हुए प्रकाशानन्दजीने कहा—'स्वामीजी! मैं आपसे एक शिकायत करना चाहता हूँ, आप पहले आये और मुझसे बिना ही मिले चले गये। साधुओंके सम्बन्धी साधु ही होते हैं। वाराणसीमें आपका एक मठ था, उसमें न आकर आप गृहस्थियोंके यहाँ ठहरे और मुझसे मिले भी नहीं। मालूम पड़ता है आप मुझे अपना नहीं समझते।'

प्रभुने इस बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उसी समय एक चुलबुले-से युवक संन्यासीने धीरेसे कहा—'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्'।* इस बातके सुनते ही संन्यासीमण्डलीमें जोरका कहकहा मच गया। सबके चुपचाप हो जानेपर प्रभुने धीरे-धीरे लज्जाके स्वरमें कहा—'आप गुरुजनोंके सामने मैं क्या मुख लेकर आऊँ। अपनेमें इतनी योग्यता नहीं समझी कि आपके दर्शन कर सकूँ, इसी सङ्कोचसे नहीं आया।'

बातको बदलते हुए प्रकाशानन्दजीने कहा—'तुमने कटवाके केशव भारतीसे ही संन्यास लिया है न?'

प्रभुने धीरेसे कहा—'जी हाँ, वे ही मेरे दीक्षागुरु हैं।'

प्रकाशानन्दजीने कुछ रुक-रुककर कहा—'एक बात पूछना चाहता हूँ, तुम बुरा न मानो तो पूछूँ?'

प्रभुने दीनताके स्वरमें कहा—'आप कैसी बात कर रहे हैं, आप तो मेरे हितकी ही बात पूछेंगे। आप तो गुरुजन हैं, सदा हमारा कल्याण ही चाहेंगे।'

---

* चुप हो जाना स्वीकृतिका लक्षण है।

प्रकाशानन्दने कहा—'हाँ, मैं यह पूछना चाहता हूँ कि संन्यासीका मुख्य धर्म है कि वह भिक्षापर निर्वाह करता हुआ, सदा वेदान्तचिन्तन करता रहे। युक्तिसे, शास्त्रप्रमाणसे, आप्त पुरुषोंके वाक्योंद्वारा इस सत्य-से प्रतीत होनेवाले जगत्की सदा निस्सारताहीको सोचता रहे। तुम वेदान्तका चिन्तन छोड़कर यह हरिनामस्मरण क्यों कर रहे हो?'

प्रभुने नम्रताके साथ कहा—'भगवन्! मेरे गुरुदेवने मुझे ऐसा ही उपदेश दिया है। उन्होंने मुझे वेदान्तशास्त्रका अनधिकारी समझकर इसी मन्त्रका उपदेश दिया और आज्ञा की कि इसीका जप किया करो। उन्होंने कहा था—'कलियुगमें और कोई सुगम साधन ही नहीं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इसीलिये मैं दिनरात्रि इसीका जप करने लगा। निरन्तरके जपसे या इसीका ध्यान रहनेसे मेरे दिमाग़में कुछ गर्मी-सी चढ़ गयी। मैं पागल-सा हो गया, घर-बार कुछ भी अच्छा नहीं लगने लगा। आँखोंमें-से आपसे आप ही अश्रु बहने लगे। तब तो मैं घबड़ाया और मैंने गुरु महाराजसे पूछा—'भगवन्! आपने मुझे यह कैसा मन्त्र दे दिया। इससे तो मैं पागल हो गया। तब उन गुरु महाराजने श्रीमद्भागवतके कुछ श्लोक सुनाकर मुझसे कहा—'यह स्थिति बुरी नहीं है। यह शुभ लक्षण हैं। तुम इसी प्रकार जप करते जाओ।' अतएव भगवन्! मैं उसी दिनसे इसीका सदा जप करता रहता हूँ। नित्य जपनेसे समझ लीजिये या अभ्यास समझ लीजिये, इस नाममें ऐसी आसक्ति-सी हो गयी है कि मैं छोड़नेकी कोशिश भी करूँ तो भी यह नहीं छूटता।'

प्रभुकी बात सुनकर बातको टालते हुए प्रकाशानन्दजी कहने लगे—'हरिनामस्मरण बड़ा उत्तम है। कलिसन्तरण उपनिषद्में भगवन्नामकी बड़ी महिमा लिखी है, किन्तु तुम ब्रह्मसूत्रोंसे उदासीन-से क्यों हो? वेदान्तदर्शनको क्यों नहीं मानते?'

नम्रताके साथ प्रभुने कहा—'भगवन्! ऐसा कौन वेदोंको माननेवाला आस्तिक पुरुष होगा जो भगवान् व्यासदेवजीके ब्रह्मसूत्रोंको न मानता हो?' प्रकाशानन्दजीने कहा—'वेदान्तसूत्रोंमें निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। अहंग्रह-उपासनाद्वारा निर्विशेष ब्रह्मका चिन्तन न करके नाच-गानमें रत रहना तो वेदान्तसूत्रोंके न माननेके ही बराबर है।'

प्रभुने कहा—'मैं इस बातको नहीं मानता कि ब्रह्मसूत्रोंमें भगवान् व्यासने केवल निर्विशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। मेरा मत तो ऐसा है कि इसमें सविशेष गुणविशिष्ट ब्रह्मका ही वर्णन प्रधानताके साथ किया गया होगा।'

कुछ चौंककर और चारों ओर संन्यासियोंकी ओर देखकर प्रकाशानन्दजी कहने लगे—'यह तुम कैसी अशास्त्रीय-सी बात कह रहे हो? ब्रह्मसूत्रके प्रत्येक सूत्रमें निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया गया है। भगवान् शंकराचार्यने विस्तारके सहित अपने भाष्यमें इसका वर्णन किया है। क्या तुमने शारीरक भाष्य नहीं पढ़ा है या शङ्कराचार्यको ही नहीं मानते हो?'

प्रभुने कहा—'मैंने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यसे शारीरक भाष्य सुना है और अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार कुछ समझा भी है। भला, जगद्गुरु शङ्कराचार्यको कौन नहीं मानेगा? वे ही तो दस नामी शाङ्कर

सम्प्रदायके आदि आचार्य और जगन्मान्य गुरु हैं। उनके श्रीचरणोंमें मैं पूर्ण श्रद्धा रखता हूँ।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'यह तो न मानना ही हुआ जो उनके भाष्यके विरुद्ध बातें कहते हो। भगवान् व्यासके असली भावोंको तो शङ्कर भगवान्ने ही समझा है, उन्होंने सम्पूर्ण भाष्यमें उसी एक निर्गुण, निर्विशेष उपाधिरहित अखण्ड सत्ताका वर्णन किया है। जब जगत् वास्तवमें कुछ है ही नहीं और जीव-ब्रह्ममें जब कुछ भेद ही नहीं, तब स्तुति कैसी? विनय और प्रार्थना किसकी? सब नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही तो हैं। ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, जो कुछ यह भास रहा है, स्वप्नके पदार्थोंके समान सब मिथ्या है।'

प्रभुने कहा—'व्यास भगवान्ने तो ब्रह्मसूत्रोंका भाष्य स्वयं ही किया है और उस भाष्यको करनेपर ही उन्हें शान्ति प्राप्त हुई है और तभीसे उन्होंने और कुछ लिखना ही छोड़ दिया है। श्रीमद्भागवत ही ब्रह्मसूत्रोंका निर्विवाद भाष्य है। यह भगवान् व्यासदेवकी अन्तिम कृति है, इसमें जो कुछ कहा गया है वही सबसे अधिक मान्य है।* आप तो सर्वशास्त्रवेत्ता हैं, ठीक-ठीक बताइये श्रीमद्भागवतमें निर्विशेष ब्रह्मकी प्रधानता है या साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रको ही सविशेष पूर्णब्रह्म परमात्मा बताया गया है?'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'हाँ, यह तो सत्य है कि श्रीमद्भागवतको भगवान् व्यासदेवने सभी शास्त्रोंका सार लेकर बनाया है। श्रीनारदजीके उपदेशसे उन्होंने भगवान्की लीलाओंका वर्णन करनेसे परम शान्ति भी

* सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥
(श्रीमद्भा० १२।१३।१५)

प्राप्त की है और आत्माराम मुनियोंतकके लिये उन्होंने ग्रन्थके आदि-में भगवत्-भक्ति करते रहनेका सङ्केत करके उसका कारण बताया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अर्थात् भगवान्‌के गुणोंमें दिव्यता ही ऐसी है कि कैसे भी अज्ञान-रहित आत्माराम मुनि क्यों न हों, वे भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते ही हैं। इस बातको मैं मानता हूँ, किन्तु भगवान् शङ्कराचार्यजीने जो एकदम सविशेष ब्रह्मको गौण बताकर और परम साध्य निर्विशेष *ब्रह्मको ही माना है, यह क्यों? यही मेरी शङ्का है।'*

प्रभुने कहा—'भगवान् शङ्कराचार्य श्रीमद्भागवतको भी यथाविधि जानते थे, भागवतके प्रति भी उनकी परम श्रद्धा थी। इस बातको भी वे जानते थे कि श्रीमद्भागवत भगवान् व्यासदेवजीद्वारा प्रकट हुआ और उसके प्रतिपाद्य सविशेष सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही हैं। फिर भी उन्होंने निर्विशेष ब्रह्मको ही अपने भाष्यमें प्रधानता देते हुए उसे ही चरम लक्ष्य माना है। यह उनकी महानता ही है। महान् पुरुषोंके सिवा ऐसा साहस कोई दूसरा नहीं कर सकता। उन्होंने लोककल्याणके ही निमित्त ऐसा किया है।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'सूत्रोंके अर्थका अनर्थ करनेमें कौन-सा लोककल्याण है?'

प्रभुने धीरेसे कहा—'भगवन्! अर्थ कैसा और अनर्थ कैसा? ये तो सब बुद्धिके विकार हैं। असली पदार्थ कहीं शब्दोंद्वारा व्यक्त किया जा सकता है या उसकी सिद्धि तर्कके द्वारा की जा सकती है? असली पदार्थ

तो अनुभवगम्य है। किसी पदका कुछ भी अर्थ लगा लें, सभी ठीक है। अर्थ लगानेमें बुद्धिचातुर्यके सिवा और है ही क्या ? अर्थ लगाना, व्याख्यान करना, भाष्य और पुस्तकोंकी रचना करना यह सब लौकिकी बुद्धिका काम है, इससे मुक्ति थोड़े ही मिल सकती है ? केवल लोगोंका मनोरञ्जन करना है।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'हाँ, यह तो बताओ कि भगवान् शङ्करने क्या सोचकर जगत्को एकदम उड़ा दिया और निर्विशेष ब्रह्मको ही परमसाध्य तत्त्व माना ?'

प्रभुने धीरे-धीरे मधुर स्वरमें कहा—'भगवन् ! शङ्का या तर्कका होना अज्ञान या पूर्वजन्मकृत पापोंका फल है। वे महाभाग पुरुष धन्य हैं जिन्हें ईश्वरके अस्तित्वमें किसी प्रकारकी शङ्का ही नहीं उठती। वे ईश्वरको सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी और चराचर विश्वका साक्षी मानकर उन्हींका चिन्तन करते रहते हैं। उनके लिये पढ़ना, लिखना, बातें करना और ध्यान-उपासना करना आवश्यक नहीं। जो सदा भगवान्को सर्वत्र समझकर और सभीमें भगवत्-बुद्धि रखकर व्यवहार करेगा, उससे कभी अनर्थका काम होनेका ही नहीं। ग्रन्थभार तो अज्ञानका चिह्न है। जिन्हें भगवान्के सर्वान्तर्यामीपनेका विश्वास नहीं, जिनके मनमें भाँति-भाँतिकी शङ्काएँ सदा उठा ही करती हैं, उन्हींके लिये शास्त्र हैं, कि शास्त्रोंके द्वारा वे अपनी तार्किक बुद्धिको श्रद्धामय बना लें। यदि अन्ततक बुद्धि तर्कमें ही फँसी रही तो शास्त्रोंका पढ़ना व्यर्थ है, शास्त्रोंके पठनका फल है तर्कातीत होकर श्रद्धालु बन जाना। जो जैसा तार्किक होता है, उसके लिये वैसे ही शास्त्रकी आवश्यकता होती है।

दो प्रकारके पुरुष होते हैं—एक हृदयप्रधान, दूसरे मस्तिष्कप्रधान। हृदयप्रधान कम होते हैं, मस्तिष्कप्रधान अधिक होते

हैं । मस्तिष्कप्रधानवाले बिना तर्कके किसी बातको मानते ही नहीं । जैसे विषकी ओषधि विष ही है, अग्निके जलेको तेल लगाकर अग्निसे सेकनेसे ही ठीक होता है, उसी प्रकार तर्कवालोंकी बुद्धिको तर्क-द्वारा ही परास्त करना चाहिये । तर्क करते-करते बुद्धिको इतनं सूक्ष्म विषयमें ले जाना चाहिये कि वहाँसे आगे जानेकी बुद्धिकी शक्ति ही न रहे । तर्क करनेसे स्थूल बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है, और सूक्ष्म बुद्धि ही परमार्थकी ओर बढ़ सकती है । भगवान् शङ्करने तर्क और युक्तियों-द्वारा भगवत्तत्त्वको इस खूबीके साथ वर्णन किया है कि भारी-से-भारी तार्किक भी वहाँसे आगे नहीं बढ़ सकता । सचमुच भगवान् शङ्करने तर्कका अन्त कर डाला है । वेदान्तश्रवण और पठनका इतना ही प्रयोजन है कि जिनकी बुद्धि तार्किक है वे उसके द्वारा उसे सूक्ष्म और परिष्कृत बनाकर उसे परमार्थगामिनी बनावें । सदा तर्कोंमें ही फँसे रहना लक्ष्य नहीं है, क्योंकि परमार्थका मार्ग तो तर्कातीत है ।

अज्ञानमें और श्रद्धामें आकाश-पातालका अन्तर है । अज्ञानीको भी तर्क नहीं उठता किन्तु वह परमार्थकी ओर थोड़े ही बढ़ सकता है, जबतक उसे सच्ची श्रद्धा न हो । और जिसके हृदयमें श्रद्धा है, वह कभी अज्ञानी रह ही नहीं सकता क्योंकि सच्ची श्रद्धा तो विचारका अन्त होनेपर होती है । जहाँ तर्क और शङ्का उठना पूर्वजन्मकृत पापोंका फल है, वहाँ तर्क उठनेपर आलसी और अज्ञानियोंकी भाँति उसे दबाना भी महापाप है । ऐसा आलसी परमार्थी हो ही नहीं सकता । वह असली श्रद्धालु न होकर श्रद्धालु बननेका ढोंग करता है और ढोंगीसे भगवान् बहुत दूर रहते हैं ।

जो हृदयप्रधान हैं, भावुक हैं, सरल हैं, उनके मनमें शङ्का उठती ही नहीं । वे तो सदा अपने प्यारेका गुणगान ही सुनना चाहते हैं । उन्हें

सविशेष या निर्विशेषकी सिद्धिसे कोई प्रयोजन नहीं । भक्ति करते चलो । सविशेष-निर्विशेष जैसा भी होगा वह अपने-आप ही प्रकट हो जायगा । उसके लिये तो श्रीकृष्णचरणाम्बुज ही सत्य हैं । जगत् चाहे सत्य हो अथवा असत्य, इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं ।' *

प्रकाशानन्दजीने कहा—'तब तो यह दम्भ हुआ कि समझते कुछ और हैं और सिद्ध कुछ और करते हैं । भगवान् शङ्कर तो इस जगत्को त्रिकालमें भी सत्य नहीं मानते, वे तो इसे अनिर्वचनीय ब्रह्मकी मायाका एक भ्रमपूर्ण पसारा समझते हैं । ऐसा माननेवाले वे सविशेष ब्रह्मकी उपासना करनेको कैसे कहेंगे ?'

प्रभुने कहा—'कहेंगे क्या ? उन्होंने स्वयं की है, हृदयकी गतिको कोई रोक सकता है ? जगत् नहीं है हम ब्रह्म ही हैं, ये मस्तिष्कके विचार हैं, उनके हृदयसे तो पूछिये । वे स्वयं कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

'चाहे जीव-ब्रह्ममें भेद न भी हो, तो भी हे नाथ ! मैं तुम्हारा हूँ किन्तु तुम स्वयं मेरे नहीं हो 'समुद्रकी तरङ्गें' तो सब कहते हैं, किन्तु 'तरङ्गोंका समुद्र' ऐसा कोई नहीं कहता ।' यह उन महापुरुषके वाक्य हैं जो जीवनभर जीव-ब्रह्मकी एकताको ही सिद्ध करते रहे थे ।'

आश्चर्यके सहित प्रकाशानन्दजीने कहा—'यह तो आचार्यका विनोद है, जैसे यहाँ कल्पित जगत् है, वैसे ही व्यवहारमें उन्होंने यह बात कह दी । असलमें जब जगत्का अस्तित्व ही नहीं तो कैसी विनय

---

* श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम् ।
जगत् सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम ॥

और कैसी प्रार्थना ? सदा अपनेको ब्रह्म ही समझते रहनेका अभ्यास करते रहना चाहिये ।'

प्रभुने कहा—'भगवन् ! आपका यह कहना ठीक तो है, किन्तु मैं फिर उसी बातको दुहराता हूँ कि यह संसारसे क्षुब्ध हुई बुद्धिको बहलानेकी बात है । सच्ची शान्ति तो हृदयकी आहसे ही होती है । जब सभी तर्कोंको भूलकर एकान्तमें भगवान् शङ्कराचार्यजीकी भाँति इस प्रकार दीन होकर प्रार्थना करे, तभी हृदयकी सच्ची शान्ति मिल सकती है । आचार्य-चरण अपनी प्रसिद्ध षट्पदीमें प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—

मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वरपरिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥

संसारको त्रिकालमें भी सत्य न माननेवाले भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—'आप मत्स्यादि अवतार धारण करके सदा पृथ्वीका परिपालन करते रहते हैं । हे प्रभो ! संसारतापोंसे सन्तप्त हुआ मैं आपकी शरण आया हूँ, आप मेरी रक्षा करें ।' यह सच्चे हृदयकी आवाज है ।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'यथार्थमें तो यह जगत् असत्य ही है और जीव ही ब्रह्म है, किन्तु जो लोग इसे नहीं समझते और असत्य जगत्को ही सत्य समझते हैं, उनके लिये जैसे भगवान् शङ्करने संसारकी व्यावहारिक सत्ता मानी है, उसी प्रकार यह व्यावहारिक प्रार्थना है । वैसे तो मुक्ति ही जीवका चरम लक्ष्य है और भ्रम दूर होते ही इस अज्ञानका नाश हो जाता है और अज्ञानके नाश होते ही जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । हो क्या जाता है उसे अपने असली स्वरूपका बोध हो जाता है ।'

प्रभुने अत्यन्त ही नम्रताके साथ कहा—'भगवन् ! आप ज्ञानी हैं, पण्डित हैं, शास्त्रज्ञ हैं, हम सबके गुरु हैं । आपके सामने मैं कह ही

क्या सकता हूँ ? किन्तु मैं फिर कहूँगा, यह हृदयकी बात नहीं है । विचारोंका परिष्कृत स्वरूप है, भगवन्! प्रेम ही ब्रह्मका सच्चा स्वरूप है। प्रेमकी उपलब्धि ही जीवका चरम लक्ष्य है । वह कहनेकी चीज नहीं । उसका गान वाणीसे नहीं हृदयसे होता है, वह कही नहीं जाती, अनुभव की जाती है; उसकी सिद्धि नहीं की जाती, वह स्वतःसिद्ध है; उसे साधनोंद्वारा कोई प्राप्त नहीं कर सकता, उसकी प्राप्ति तो प्रभुकृपासे ही होती है । मैं फिर कहता हूँ, भगवान् शङ्करने केवल मस्तिष्कप्रधान पुरुषोंकी बुद्धिको अत्यन्त सूक्ष्म करनेके ही निमित्त शारीरक भाष्यकी रचना की है। उनका हृदय तो प्रभुप्रेमके सामने मुक्ति आदिको तुच्छ समझता है । वे स्वयं कहते हैं—

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित् फलं स्वेप्सितं
केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः ।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥

(प्रबोधसुधाकर)

'बहुत लोग प्रतिदिन अनेक कामनाओंके सहित उपासना करके मनवाञ्छित फल चाहते हैं, कुछ लोग यज्ञ-यागादिके द्वारा स्वर्गकी इच्छा करते हैं । बहुत-से योगादिके द्वारा मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं, किन्तु हमें तो नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके पदारविन्दोंके ध्यानमें ही तत्परताके साथ संलग्न रहनेकी इच्छा है । हमें उत्तम लोकोंसे क्या ? हमें, राजा बन जानेसे, स्वर्गसे और यहाँतक कि मोक्षसे क्या लेना ? हमें तो सतत उन्हीं अरुण वर्णके चरणोंका ध्यान बना रहे ।''

इस श्लोकको कहते-कहते प्रभुका गला भर आया । उनके शरीरमें सभी सात्त्विक विकारोंका उदय हो उठा । उन्होंने अपने भावको

संवरण करना चाहा, किन्तु वे उसमें समर्थ न हो सके। प्रभुकी आँखें ऊपर चढ़ गयीं। शरीरसे पसीना निकलने लगा। बेहोश होकर वे वहीं एक तकियेके सहारे लुढ़क गये। उनकी ऐसी दशा देखकर प्रकाशानन्दजी आश्चर्यचकित हो गये और अपने वस्त्रसे स्वयं उनको हवा करने लगे। उपस्थित सभी संन्यासियोंपर प्रभुकी बातोंका और उनकी इस अद्भुत दशाका बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा। बहुत-से तो उसी समय 'हरि-हरि' करके नाचने लगे। प्रकाशानन्दजीके हृदयमें भी खलबली मच गयी। उनका मन बार-बार कह रहा था—'अरे मूर्ख, तेरे अज्ञानको मिटानेके निमित्त साक्षात् श्रीहरि संन्यासीका वेष धारण करके तेरे सामने उपस्थित हैं तू इनके पादपद्मोंको पकड़कर अपने पूर्वकृत पापोंके लिये क्षमा-याचना क्यों नहीं करता।' किन्तु इतनी भारी प्रतिष्ठाका लालच अभी उनके हृदयमेंसे समूल नष्ट नहीं हुआ था। वे हृदयसे तो प्रभुके चरणोंके दास बन चुके थे। हृदय तो उन्होंने उसी समय श्रीकृष्णचैतन्य-नामधारी हरिके चरणाम्भोजोंमें समर्पित कर दिया था, किन्तु शरीरको अभी लोकलज्जावश बचाये हुए थे।

उसी समय प्रभुको होश हुआ। वे कुछ लज्जित-से हुए तकियेसे हटकर एक ओर बैठ गये। उसी समय भोजनके लिये बुलावा आ गया, सभी भोजन करने बैठ गये। प्रभुने बड़े ही सङ्कोचसे संन्यासियोंके साथ बैठकर भिक्षा पायी। अन्तमें वे श्रीप्रकाशानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके भक्तोंके सहित चन्द्रशेखरके घर चले गये।

श्रीप्रकाशानन्दजीका आत्मसमर्पण

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट
स्वच्छन्दं पिव यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु ।
सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधां
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज ॥*

भक्तचितचोर श्रीगौराङ्गने अद्वैत वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित श्रीप्रकाशानन्दजीका मन हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लिया । वे अनजान भोले मनुष्यकी भाँति प्रभुके मनसे चरणकिंकर बन गये क्योंकि वे प्रभुके अपने निजजन थे । प्रभुके चले जानेपर प्रकाशानन्दजी अपने मठमें पहुँचे । वहाँ उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगने लगा । वेदान्तके ग्रन्थ उन्हें काटनेको दौड़ने लगे । उनका चित्त अब श्रीचैतन्यचरणोंके चिन्तनमें ही सुखका अनुभव करने लगा । महाप्रभुकी मनोहर मूर्ति उनके हृदयमें गड़-सी गयी । वे उनकी अनुपम रूपमाधुरीका मन-ही-मन रसास्वादन

---

* हे भैया ! बताऊँ कैसा जीवन तुम्हें बिताना चाहिये ? अच्छा तो सुनो—'देखो, व्रजकी पुण्यभूमिमें किसी वृक्षके नीचे पड़ रहो और भूख लगे तो आसपासके गाँवोंमेंसे जाकर टुकड़े माँग लाओ । किसीने सम्मानसे भोजन करा दिया था और किसी भाँतिसे प्रतिष्ठा की तो उसे भयङ्कर विषके समान समझो । यदि गाँवके मूर्ख आकर तुम्हें देखकर हँसें और अपमान करें तो समझना ये हमें अमृत पिला रहे हैं । पीनेके लिये श्यामरंगवाला सुन्दर स्वच्छ यमुनाजीका जल और ओढ़नेके लिये रास्तेमें पड़े हुए चिथड़ोंकी गुदड़ी, इससे अधिक संग्रह ठीक नहीं । बस, श्रीराधारमण बाँकेविहारी मुरलीधरका ध्यान करते हुए वृन्दावनको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी मत जाओ ।'

करने लगे। उन्हें अपने पूर्वकृत अपराधोंके लिये घोर सन्ताप होने लगा—'हाय, जो इतने सरल हैं, ऐसे विनम्र हैं, इतने सुन्दर हैं—उनके प्रति मैंने कैसे-कैसे कटु शब्द कहे! उनका श्रीविग्रह कितना तेजोमय, प्रकाशमय और आनन्दमय है, उनके रोम-रोमसे प्रेमका प्रवाह फूट-फूटकर निकलता रहता है। सरलताकी तो साक्षात् साकार सजीव मूर्ति ही हैं।' श्रीमत् प्रकाशानन्दजी ऐसा सोच ही रहे थे कि उसी समय महाराष्ट्रीय सज्जन वहाँ आ उपस्थित हुए। वे स्वामी प्रकाशानन्दजीको प्रणाम करके बैठ गये और थोड़ी देर पश्चात् धीरे-धीरे पूछने लगे—'भगवन्! आपने उन बङ्गाली स्वामीजीके दर्शन किये। अब तो आपने प्रत्यक्ष ही देख लिया कि उनका शरीर ही प्रेममय है।'

इतना सुनते ही प्रकाशानन्दजीने उनके पैर पकड़ लिये और रोते-रोते कहने लगे—'भैया, तुमने मेरा उद्धार करा दिया। अभिमानके वशीभूत होकर अपनेको पण्डित समझनेवाले मुझ पतितने उन महापुरुष-की न जाने कितनी बार निन्दा की? वे तो साक्षात् ईश्वर हैं। शरीरधारी नारायण हैं। उन्होंने जो बातें कहीं सो सभी सत्य हैं।'

अपने पैरोंको जल्दीसे खींचते हुए उन महाराष्ट्रीय सज्जनने प्रकाशानन्दजीसे कहा—'भगवन्! आप यह मुझपर कैसा अपराध चढ़ा रहे हैं? मेरे लिये तो आप भी साक्षात् शङ्कर हैं। आपको क्या ज्ञान और क्या अज्ञान? आप तो सर्वज्ञ हैं। लोकशिक्षणके लिये और भक्तिका माहात्म्य प्रकट करनेके लिये ही आपने ऐसा किया। आपने अपने जीवनमें इस बातको प्रत्यक्ष करके दिखा दिया कि कितना भी भारी ज्ञानी क्यों न हो उसे उन अरविन्दाक्ष भगवान् श्रीहरिका आश्रय कभी न छोड़ना चाहिये। जो ज्ञानके अभिमानमें अच्युतका आश्रय त्याग देते हैं उनका अवश्य ही अधःपतन हो जाता है। आपने तो अपने जीवनसे

भक्तिका माहात्म्य प्रकट किया है। भगवन्! आपके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है। मैं तो आपको बहुत ही श्रेष्ठ समझता हूँ।'

इस प्रकार बहुत देरतक बातें होती रहीं। महाराष्ट्रीय सज्जन स्वामी-जीसे विदा लेकर अपने घर चले गये। दूसरे दिन इस सुखद संवादको सुनानेके लिये वे प्रभुके पास आ रहे थे कि उन्हें रास्तेमें ही गङ्गास्नान करके लौटते हुए प्रभु मिल गये। जल्दीमें उन्होंने प्रणाम करके कहा—'प्रभो! प्रभो! महान् आश्चर्यकी बात! आपकी माया अपार है प्रभो! ओहो! जो आपकी इतनी भारी निन्दा किया करते थे, वे वेदान्त-शिरोमणि श्रीमत् प्रकाशानन्द अब बालकोंकी भाँति रो रहे हैं। अब उन्हें वेदान्तचिन्तन, शास्त्रोंका पठन-पाठन कुछ भी नहीं भाता है, अब वे निरन्तर श्रीचैतन्यचरणोंका ही चिन्तन करते रहते हैं।'

इस संवादको सुनते ही प्रभु उछलने लगे और परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—'भगवान् बड़े दयालु हैं, उन्होंने पूज्यपाद प्रकाशानन्दजीके ऊपर कृपा कर दी। उन्हें प्रेमदान देकर अपना लिया। अहा! उन महापुरुषके चरणोंकी धूलिको मैं अपने मस्तकपर चढ़ाकर अपने जीवनको कृतार्थ करूँगा।' इतना कहते-कहते प्रभु बिन्दुमाधवजी-के मन्दिरमें दर्शन करने गये। भगवान्‌की मनोहर मूर्तिके दर्शनोंसे प्रभु भावावेशमें आकर नृत्य करने लगे। श्रीसनातन, चन्द्रशेखर वैद्य, तपन मिश्र आदि भक्त भी प्रभुके साथ ताली बजा-बजाकर नाचने और—

हरिहरये नमः कृष्णयादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

—इस पदको बड़े ही स्वरके साथ गाने लगे। महाप्रभु बाह्यज्ञानशून्य होकर नृत्य कर रहे थे। बहुत-से दर्शनार्थी प्रभुका नृत्य देखनेके लिये

एकत्रित हो गये।—संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनकर शिष्योंके सहित श्रीस्वामी प्रकाशानन्दजी भी वहाँ आ उपस्थित हुए और वे भी प्रभुके स्वरमें स्वर मिलाकर—

हरिहरये नमः कृष्णयादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

—इस पदका गायन करने लगे। थोड़ी देरके अनन्तर प्रभुने संकीर्तन बन्द कर दिया। उन्हें अब कुछ बाह्य ज्ञान हुआ। सामने सशिष्य प्रकाशानन्दजीको देखकर प्रभुने उनके चरणोंमें भक्तिभावसे प्रणाम किया। इसपर प्रकाशानन्दजी प्रभुके पैरोंमें पड़ गये। अपने पैरोंको जोरसे खींचते हुए प्रभु दीनभावसे कहने लगे—'भगवन्! यह आप कैसा अनर्थ कर रहे हैं! गुरुजन होकर आप मेरे ऊपर पाप क्यों चढ़ा रहे हैं? मैं तो आपके शिष्योंके शिष्योंतकके बराबर नहीं हूँ, यद्यपि आपकी दृष्टिमें सभी ब्रह्मस्वरूप हैं, फिर भी लोकमर्यादाके हिसाबसे आपको ऐसा न करना चाहिये। आप तो मेरे परम वन्दनीय हैं।'

धीरे-धीरे प्रकाशानन्दजीने कहा—'प्रभो! मैं अपने पूर्वकृत पापोंका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। मैंने आपकी लोगोंके सामने बहुत निन्दा की थी।'

प्रभुने कानोंपर हाथ रखते हुए कहा—'श्रीहरि श्रीहरि! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं? गुरुजन अपने शिष्य तथा सेवकोंकी कभी बुराई कर ही नहीं सकते। वे तो सदा उनके कल्याणकी ही बातें सोचा करते हैं। आप भला मेरी कभी बुराई कर सकते हैं?' इस प्रकार बहुत देरतक दोनों महापुरुषोंके बीच बातें होती रहीं। अन्तमें दोनों ही एक दूसरेसे विदा हुए।

सायंकालके समय एकान्तमें श्रीप्रकाशानन्दजी महाप्रभुके पास स्वयं आये। आते ही उन्होंने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और एक

प्रकाशानन्दजी प्रभुके पैरोंमें पड़ गये

साधारण शिष्यकी भाँति नम्रतासे एक ओर बैठ गये। प्रभुने इनका जोरोंसे आलिंगन किया और खींचकर अपने समीप बैठा लिया।

तब प्रकाशानन्दजीने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए बड़ी ही नम्रताके साथ कहा—'प्रभो ! मैंने अबतक अपना अमूल्य समय अभिमान और आत्मश्लाघामें ही बिता दिया। परमार्थपथसे मैं अब-तक एकदम अनभिज्ञ ही रहा, इसलिये अब मुझे क्या करना चाहिये, मेरा मुख्य कर्तव्य क्या है, सो बता दीजिये।'

प्रभुने कहा—'भगवन् ! आप साधारण जीव नहीं हैं। आप तो जीवन्मुक्त हैं। आप जो भी कुछ करना चाहते हैं और आप जो भी कुछ करेंगे उसका एकमात्र उद्देश्य लोकसंग्रह और लोकशिक्षण ही होगा। इसलिये भगवन् ! मैं तो यही समझता हूँ कि प्राणिमात्रका परमपुरुषार्थ श्रीकृष्णप्रेमकी उपलब्धि करना ही है। प्रभुके पादपद्मोंमें प्रीति हो—यही सब साधनोंका अन्तिम फल है और सभी कार्य इसी एक उद्देश्यकी पूर्तिके निमित्त करने चाहिये।'

प्रकाशानन्दजीने पूछा—'प्रभो ! प्रभुपादपद्मोंमें प्रेम कैसे हो ?'

प्रभुने कहा—'सजातीय और विजातीय दो पदार्थ हैं। जीव भगवान्का अंश है, यदि उसे सजातीय भगवान्की ओर लगायेंगे तो आनन्दकी उपलब्धि होगी और विजातीय संसारी कामोंमें फँसाये रक्खेंगे तो यह सदा दुखी ही बना रहेगा। इसलिये अनन्य भावसे उन्हीं प्रभुकी शरण जानेमें कल्याण है, यही प्रेमप्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'प्रभो ! शास्त्रोंका सिद्धान्त है, 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' अर्थात् दूसरेसे तो सदा भय ही होता है, इसका क्या अभिप्राय है ? जबतक सेव्य-सेवक-भाव है, तबतक द्वैत है और द्वैत भयका कारण है, फिर किस भावसे शरणमें जाऊँ ?'

प्रभुने कहा—'भगवन्! आप ध्यानपूर्वक इस बातपर विचार करें। वास्तवमें यह बात ठीक है कि द्वैतमें सदा भय ही होता है। बिना अद्वैतभावनाके शान्ति नहीं, किन्तु आप सोचिये—अंशमें और अंशीमें, सेव्यमें और सेवकमें, सखा और सखामें, पितामें और पुत्रमें तथा पतिमें और पत्नीमें क्या द्वैतीभाव रहता है? जहाँ द्वैत है वहाँ प्रेम कहाँ? प्रेम तो एक होनेपर ही होता है। जिसे हम अपना कहकर स्वीकार कर चुके वह दूसरा रह ही नहीं जाता। व्यवहारमें भी देखा जाता है, जब कोई गुप्त बात कहनी होती है, तो कहनेवाला पासमें बैठे हुए आदमियोंकी ओर शंकित दृष्टिसे देखता है। तब सुननेवाला कहता है—'तुम निश्चिन्त होकर कहो, यहाँ कोई 'दूसरा' नहीं है। अर्थात् सभी अपने हैं।' इसलिये अपनापन स्थापित हो जानेपर फिर भयका क्या काम? फिर तो दिन दूना आनन्द ही बढ़ता जाता है। सम्बन्ध पाँच ही प्रकारसे हो सकता है—अंश-अंशी-सम्बन्ध, स्वामी-सेवक-सम्बन्ध, सख्य सम्बन्ध, पिता-पुत्रका सम्बन्ध और पति-पत्नीका सम्बन्ध। इन्हें ही क्रमसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्ताभाव कहते हैं। इनमेंसे भगवान्के साथ कोई भी सम्बन्ध स्थापित हो जानेपर फिर वे दूसरे नहीं रहते। अपने ही हो जाते हैं, द्वैत न रहकर अद्वैत बन जाते हैं। शान्तभावमें ऐश्वर्यकी भावना रहनेसे कुछ द्वैतका अंश शेष रह जाता है। दास्यभावमें निरन्तर सेवककी भावना रखनेसे शान्तकी अपेक्षा कुछ द्वैतभाव कम हो जाता है, सख्यमें दास्यकी अपेक्षा कुछ कम होता है, किन्तु कुछ द्वैत तो सख्यमें भी बना ही रहता है। सखा अपने सखासे यह इच्छा तो रखता ही है कि वह भी हमसे स्नेह करे। सख्यकी अपेक्षा वात्सल्यभावमें द्वैत बहुत ही कम हो जाता है। क्योंकि असली पिता अपनेमें और पुत्रमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं समझता। पुत्र पिताका आत्मा ही है। किन्तु फिर भी द्वैतीभाव समूल नष्ट नहीं होता। कान्ता-

पालनजन्य कुछ सूक्ष्म द्वैतांश शेष रह ही जाता है। हाँ, कान्ताभावमें द्वैतका नाम नहीं। पत्नी अपने मनको ही पतिके मनमें नहीं मिला देती है, किन्तु वह हृदयसे हृदयको मिलाकर अपने शरीरको भी पतिके शरीरमें मिला देती है। उसकी सभी चेष्टाएँ, सभी क्रियाएँ केवल पतिके ही सुखके निमित्त होती हैं। उसके लिये अपना अस्तित्व रहता ही नहीं। वहाँ न स्वामी-सेवक-भाव है, न अंशांशी-भाव, वहाँ तो अद्वैत भाव है। पत्नी अपने लिये सुख नहीं चाहती। उसे अपने सुखमें प्रसन्नता नहीं होती। उसकी प्रसन्नता तो प्रियतमकी प्रसन्नतामें है। प्यारा प्रसन्न है, इसलिये उसे भी प्रसन्न रहना चाहिये, क्योंकि प्यारेसे पृथक् उसका अस्तित्व ही नहीं। तब प्यारेसे विरुद्ध उसकी कोई चेष्टा हो ही कैसे सकती है ? इसीका नाम मधुरभाव है, यही सर्वश्रेष्ठ भाव है। इसमें भावान्वित हुए पुरुषकी सभी क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। उसका अपनापन एकदम नष्ट हो जाता है। उसका शरीर यन्त्रकी तरह अपने-आप ही थोड़ी-बहुत चेष्टा करता रहता है। ऐसा भाव किसी भाग्यवान् पुरुषको ही प्राप्त हो सकता है। लाखोंमें क्या करोड़ोंमें कोई एक इस भाववाले पुरुष होते हैं, फिर उनके दर्शन तो किसी परम सौभाग्यशाली पुरुषको ही प्राप्त हो सकते हैं। आप तो श्रीकृष्णके निज जन हैं। आपके लिये कौन-सा भाव दुर्लभ है ? भगवान्‌ने आपको तो अपना कहकर वरण कर लिया है। जिसे वे अपना कहकर स्वीकार कर लेते हैं वही इस भावमें दीक्षित हो सकता है। योग-यज्ञ और जप-तप करके ही कोई अपनेको इस भावमें दीक्षित होनेका अधिकारी समझ बैठे, तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा ही कही जा सकती है।'

अत्यन्त ही दीनभावसे प्रकाशानन्दजीने कहा—'प्रभो! आज मेरा पुनर्जन्म हुआ। मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि भगवान्‌ने मुझे अपनी शरणमें ले लिया। अब मेरे पुनर्जन्मका नाम रख दीजिये और मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं कहाँ रहूँ और क्या करूँ ?'

प्रभुने प्रेमपूर्वक कहा—'प्रबोधानन्दजी ! आपको बोध तो पहलेसे ही था, अब प्रभुकी परम कृपा होनेसे आपको प्रकर्ष बोध हुआ है। इसलिये आजसे प्रकाशानन्दजीके स्थानमें आपका नाम प्रबोधानन्दजी हुआ। रहनेका एक ही ठाम है, 'श्रीवृन्दावनधाम', और करनेका एक ही काम है 'श्रीवृन्दावनविहारीका अहर्निश नाम-संकीर्तन।' श्रीकृष्ण-कृष्ण रटिये और वृन्दावनमें बसिये। इसीमें परम कल्याण है। प्राणीमात्रके उद्धारका यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीप्रकाशानन्दजी उसी समय प्रभुकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ाकर मठ, मन्दिर, शिष्य, सम्पत्ति सभी-को छोड़कर श्रीवृन्दावनके लिये चल दिये और वहाँ पहुँचकर कालियदमन घाटके समीप रहने लगे। अन्तिम जीवन इन्होंने अत्यन्त ही मधुरभावसे व्यतीत किया। ये पागलोंकी तरह ऊपर हाथ उठा-उठाकर नृत्य किया करते थे। ये हृदयसे अपनेको श्रीकृष्णकी सहचरी गोपी समझते। इनका मधुर भावका गुप्त नाम था 'गुणचूड़ा सखी'। कालियदमनके समीप ये एक कुटियामें रहकर अहर्निश कृष्णकीर्तन किया करते थे। प्रकाण्ड पण्डित होनेके साथ ये संस्कृतके अच्छे कवि भी थे। इनकी कविता बड़ी ही सुन्दर, सुललित तथा भावपूर्ण होती थी। इन्होंने वृन्दावनकी पवित्र भूमिमें ही अपने इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग किया। कालियदमनके समीप अभीतक इनकी समाधि बनी है।

इनके बनाये हुए 'श्रीचैतन्यचन्द्रामृत,' श्रीवृन्दावनरसामृत' 'श्रीवृन्दावनशतक' और 'श्रीराधारससुधानिधि'—ये चार ग्रन्थ पाये जाते हैं जिनमें हजारों श्लोक हैं। 'श्रीचैतन्यचन्द्रामृत' बड़ा ही मधुर काव्य है। उसके बहुत-से छन्द तो इतने भावपूर्ण हैं कि पढ़ते-पढ़ते चित्त नाचने लगता है। इनके एक-एक पदसे महाप्रभुके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा

प्रकट होती है। इनकी चैतन्यचरणोंमें बड़ी ही अनोखी और अहैतुकी भक्ति थी। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णचैतन्यके गुणगान करनेमें ही इन्होंने अपनी कमनीय कविताका सदुपयोग किया है। स्थानाभावसे यहाँ हम इनकी सुन्दर कविताओंको उद्धृत नहीं कर सकते। 'चैतन्यचन्द्रामृत' में एक स्थलपर श्रीचैतन्यचरणोंमें अपनी प्रगाढ़ प्रीति प्रदर्शित करते हुए ये कहते हैं—

> निष्ठां प्राप्ता व्यवहृतिततिर्लौकिकी वैदिकी वा
> या वा लज्जा प्रहसनसमुद्गाननाट्योत्सवेषु।
> ये वाभूवन्नहह सहजप्राणदेहार्थधर्मा
> गौरश्चौरः सकलमहरत् कोऽपि मे तीव्रवीर्यः॥

'अत्यन्त ही बलवान् किसी गौरवर्णके चोरने आकर हमारी लौकिकी और वैदिकी व्यवहारनिष्ठाको, (सङ्कीर्तन करते समय) जोर-जोरसे हँसने, गाने तथा नृत्योत्सवमें होनेवाली लज्जाको, और प्राण तथा देहके कारणस्वरूप जो स्वाभाविक धर्म हैं, उन सभीको जबरदस्ती छीन लिया। अर्थात् उस गौराङ्ग चोरने हमें इन सभी वस्तुओंसे रहित बना दिया।' अहा, धन्य है, ऐसे लूटे हुए यात्रीको और लूटनेवाले चोरको। हम लूटनेवाले चोरके और लुटनेवाले महाभाग यात्रीके चरणोंमें बार-बार प्रणाम करते हैं।

श्रीसनातन वृन्दावनको और प्रभु पुरीको

कालेन वृन्दावनकेलिवार्ता
लुप्तेति तां ख्यापयितुं विशिष्य।
कृपामृतेनाभिषिषेच देव-
स्तत्रैव रूपञ्च सनातनञ्च॥*

(श्रीचैतन्यचन्द्रो० ना० ६।४८)

लगभग दो मास काशीजीमें निवास करके महाप्रभुने दो प्रधान कार्य किये। एक तो सनातनजीको शास्त्रीय शिक्षा दी और दूसरे श्रीपाद प्रकाशानन्दजीको प्रेमदान दिया। प्रकाशानन्दजी-जैसे प्रकाण्ड पण्डितके भाव परिवर्तनके कारण प्रभुकी ख्याति सम्पूर्ण काशी नगरीमें फैल गयी। बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंके लिये आने-जाने लगे। बहुत-से

---

* समयके प्रभावसे वृन्दावनकी केलि-कथाएँ लुप्तप्राय हो गयी थीं, उन्हीं लीलाओंको विस्तारके सहित प्रकाशित करनेके निमित्त श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने श्रीरूप तथा श्रीसनातनको कृपारूपी अमृतसे अभिषिक्त करके वृन्दावन भेजा।

वेदान्ती पण्डित प्रभुको शास्त्रार्थके लिये ललकारते। प्रभु नम्रतापूर्वक कह देते—'मैं शास्त्रार्थ क्या जानूँ ? जिन्हें शास्त्रोंके वाक्योंके ही बालकी खाल निकालनी हो वे निकालते रहें मैंने तो सभी शास्त्रोंका सार यही समझा है कि सब समय, सर्वत्र, सदा, भगवान् नारायणका ही ध्यान करना चाहिये। जो आस्तिक पुरुष मेरी इस बातका खण्डन करें, वह मेरे सामने आवें।'

प्रभुके इस उत्तरको सुनकर सभी चुप हो जाते और अपना-सा मुख लेकर लौट जाते। बहुत भीड़-भाड़ और लोगोंके गमनागमनसे प्रभुका चित्त ऊब-सा गया। प्रभुको बहुत बातें करना प्रिय नहीं था। वे श्रीकृष्णकथाके अतिरिक्त एक शब्द सुनना भी नहीं चाहते थे, संसारी लोगोंके सम्पर्कसे सांसारिक बातें छिड़ ही जाती हैं, यह बात प्रभुको पसन्द नहीं थी। इसलिये उन्होंने शीघ्र ही पुरी जानेका निश्चय कर लिया। प्रभुके निश्चयको समझकर दीनभावसे हाथ जोड़े हुए श्रीसनातन-जीने पूछा—'प्रभो ! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है ?'

प्रभुने कहा—'तुम भी अपने भाईके ही पथका अनुसरण करो। वृन्दावनमें रहकर तुम दोनों भाई व्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंका फिरसे उद्धार करो और भगवान्‌की अप्रकट लीलाओंका भक्तिग्रन्थोंद्वारा प्रचार करो। तुम दोनों ही भाई वैराग्यवान् हो, पण्डित हो, रसमर्मज्ञ हो, कविहृदयके हो, तुम्हारे द्वारा जिन ग्रन्थोंका प्रणयन होगा उनसे लोगों-का बहुत अधिक कल्याण होगा। व्रजमण्डलमें आये हुए गौड़ीय भक्तोंकी रेख-देखका कार्य भी मैं तुम्हीं लोगोंको सौंपता हूँ।'

हाथ जोड़े हुए विवशताके स्वरमें सनातनजीने कहा—'प्रभो ! हम अधम भला इस इतने बड़े कार्यके योग्य कैसे हो सकते हैं ? किन्तु

हमें इससे क्या ? हम तो यन्त्र हैं, यन्त्री जिस प्रकार सुनावेगा, सुनेंगे, जो करावेगा, करेंगे । हमारा इसमें अपना पुरुषार्थ तो कुछ काम देगा ही नहीं ।'

प्रभुने कहा—'तुम इस कार्यमें प्रवृत्त तो हो, श्रीहरि स्वतः ही तुम्हारे हृदयमें शक्तिका सञ्चार करेंगे । तुम्हारे हृदयमें स्वतः ही श्रीकृष्ण-लीलाओंकी स्फुरणा होने लगेगी ।' इस प्रकार सनातनको समझा-बुझाकर प्रभुने उन्हें वृन्दावन जानेके लिये राजी कर लिया ।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही प्रभुने गङ्गास्नान करके पुरीकी ओर प्रस्थान कर दिया । तपन मिश्र, चन्द्रशेखर, रघुनाथ, परमानन्द कीर्तनिया, महाराष्ट्रीय ब्राह्मण तथा सनातन आदि प्रभुके अन्तरङ्ग भक्त उनके पीछे-पीछे चले । प्रभुने सभीको समझा-बुझाकर लौटा दिया, वे सबोंको प्रेमपूर्वक आलिंगन करके बलभद्र भट्टाचार्यके सहित आगे बढ़े । भक्त-गण मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े । श्रीसनातनजीको प्रभुवियोगसे अपार दुःख हुआ । चन्द्रशेखर वैद्य उन्हें जैसे-तैसे उठाकर अपने घर लाये । दूसरे दिन वे भी सबसे विदा लेकर राजपथसे वृन्दावनकी ओर चले ।

इधर श्रीरूपजीने सुबुद्धिरायजीके साथ सभी वनोंकी यात्रा की । वे एक महीनेतक व्रजमें भ्रमण करते रहे । फिर उन्हें अपने भाई सनातनकी चिन्ता हुई, इसलिये उनकी खोजमें वे अपने छोटे भाई अनूपके सहित सोरों होकर गङ्गाजीके किनारे-किनारे प्रयाग होते हुए काशी आये । काशीजीमें आकर उन्हें सनातनजीका और प्रभुका सभी समाचार मिला । श्रीसनातनजी मथुरामें जाकर अपने दोनों भाइयोंकी खोज करने लगे । सहसा इनकी सुबुद्धिरायजीसे भेंट हो गयी । उनसे पता चला कि रूप और अनूप तो काशी होते हुए आपकी ही खोजमें गौड़देशको गये हैं । रूपजी गङ्गाजीके किनारे-किनारे आये थे और सनातनजी सड़क-सड़क गये थे, इसीलिये रास्तेमें इन दोनों भाइयोंकी भेंट नहीं हुई । सनातनजी अब

परम वैरागी संन्यासीकी भाँति त्यागमय जीवन विताते हुए व्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंके उद्धारमें प्रवृत्त हुए। उन्हें किसी भक्तसे मथुरामें 'मथुरा-माहात्म्य' नामकी पुस्तक मिल गयी उसीके अनुसार वे व्रजमण्डलके सभी वनों और कुञ्जोंमें घूम-घूमकर लुप्त तीर्थोंका पता लगाने लगे। ये घर-घरसे टुकड़े माँगकर खाते थे और रात्रिमें किसी पेड़के नीचे पड़ रहते थे। इसी प्रकार ये अपने जीवनको विताने लगे।

इधर महाप्रभु भक्तोंसे विदा होकर झाड़ीखण्डके रास्तेसे पुरीकी ओर चलने लगे। रास्तेमें भिक्षाका प्रबन्ध उसी प्रकार बलभद्र भट्टाचार्य करते। कभी-कभी तो केवल साग और वनके कच्चे-पक्के फलोंके ही ऊपर निर्वाह करना पड़ता। प्रभु रास्तेमें—

राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्॥

इस पदका बड़े ही स्वरके सहित उच्चारण करते जाते थे। रास्तेमें चलते-चलते प्रभुको बड़े जोरोंकी प्यास लगी। सामनेसे उन्हें आता हुआ एक ग्वालेका लड़का दीखा। उसके सिरपर एक मटकी थी। प्रभुने उससे पूछा—'क्यों भाई, इसमें क्या है?'

उस बच्चेने बड़ी ही नम्रताके साथ कहा—'स्वामीजी! इसमें मट्ठा है, मैं अपने पिताको देनेके लिये जाता हूँ।'

प्रभुने कहा—'मुझे बड़ी प्यास लग रही है। क्या तुम मुझे यह मट्ठा पिला सकते हो?'

लड़केने कहा—'महाराज! मैं पिला तो देता, किन्तु मेरे पिता मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।'

प्रभुने कहा—'अच्छी बात है, तो तुम उन्हींके पास इसे ले जाओ।' इतना कहकर प्रभु आगे चलने लगे। थोड़ी देरमें उस लड़केने कुछ सोचकर कहा—'स्वामीजी! लौट आइये, आप इस मट्ठेको पी लीजिये।'

प्रभुने कहा—'तुम्हारे पिता नाराज होंगे, तब तुम क्या करोगे ?'

उसने कहा—'महाराज ! उनके लिये तो मैं और भी ला सकता हूँ । देर हो जायगी तो थोड़े नाराज हो जायँगे, किन्तु आपको न जाने आगे कहाँ पानी मिलेगा ? धूप तेज पड़ रही है । आप प्यासे जायँगे, इससे मेरा दिल धड़क रहा है । चाहे कुछ भी क्यों न हो, मैं आपको प्यासा न जाने दूँगा ।'

प्रभुने कहा—'नहीं भाई, तुम्हारे पिता तुमसे नाराज हों, यह ठीक नहीं है । मुझे तो कहीं-न-कहीं आगे जल मिल ही जायगा ।'

प्रभुकी इस बातको सुनकर उस बच्चेने आकर प्रभुके पैर पकड़ लिये और रोते-रोते उनसे मट्ठा पीनेकी प्रार्थना करने लगा । दयालु प्रभु उसके आग्रहको टाल न सके और उसके कहनेसे उस मिट्टीके बड़े बर्तनके सम्पूर्ण मट्ठेको पी गये । मट्ठेको पीकर प्रभुने जोरोंसे उस लड़केको आलिङ्गन किया । प्रभुका आलिङ्गन पाते ही वह प्रेममें उन्मत्त होकर 'हरि हरि' कहकर नृत्य करने लगा । उस समय उसकी दशा बड़ी ही विचित्र हो गयी थी । उसके शरीरमें सात्त्विक भाव उदय होने लगे । इस प्रकार प्रभु उस बालकको प्रेमदान देकर आगे बढ़े । कई दिनोंके पश्चात् प्रभु पुरीके समीप पहुँच गये । दूरसे ही उन्हें श्रीजगन्नाथजीकी पताका दिखायी दी । श्रीमन्दिरकी पताकाके दर्शन होते ही, प्रभुने भूमिमें लोटकर जगन्नाथजीकी फहराती हुई विशाल पताकाको प्रणाम किया और वे अठारह नालापर पहुँचे । अठारह नालापर पहुँचकर आपने भक्तोंको खबर देनेके निमित्त बलभद्र भट्टाचार्यको भेजा और आप वहीं थोड़ी देरतक बैठकर रास्तेकी थकान मिटाने लगे ।
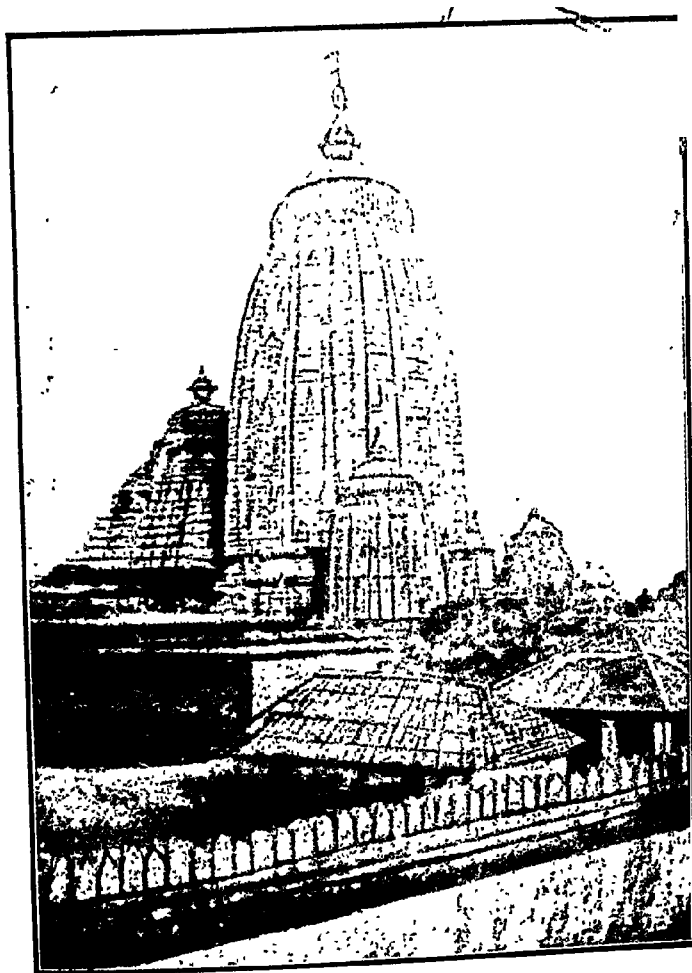
श्रीजगन्नाथजीका मन्दिर नील चक्र और ध्वजासहित

प्रभुका पुरीमें भक्तोंसे पुनर्मिलन

अद्यास्माकं सफलमभवज्जन्म नेत्रे कृतार्थे
सर्वस्तापः सपदि विरतो निर्वृतिं प्राप चेतः।
किं वा ब्रूमो बहुलमपरं पश्य जन्मान्तरं नो
वृन्दारण्यात् पुनरुपगतो नीलशैलं यतीन्द्रः॥*

(श्रीचैतन्यचन्द्रो० ना०)

'संन्यासिचूडामणि श्रीचैतन्य वृन्दावनसे लौटकर पुनः नीलाचल आ गये हैं'—इस सुखद संवादके श्रवणमात्रसे ही गौरभक्तोंमें अपार आनन्द छा गया। वे परस्पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए एक दूसरेका आलिङ्गन करने लगे। कोई जल्दीसे दौड़कर कानोंमें अमृतका सिञ्चन करनेवाले इस प्रिय समाचारको दूसरेसे कहता, वह तीसरेके पास दौड़ा जाता। इसी प्रकार क्षणभरमें यह संवाद सम्पूर्ण जगन्नाथपुरीमें फैल गया।

महाप्रभु जब वृन्दावनको जा रहे थे, तभी सब भक्तोंने समझ लिया था कि प्रभुके ये अन्तिम दर्शन हैं। जो वृन्दावनका नाम सुनते ही मूर्च्छित हो जाते हैं, जिनकी दृष्टिमें वृन्दावनसे बढ़कर विश्वब्रह्माण्डमें कोई उत्तम स्थान ही नहीं है, वे वृन्दावन पहुँचकर फिर वहाँसे क्यों लौटने लगे? अब तो प्रभु वृन्दावनवास करते हुए उस बाँकेविहारीके साथ

---

* आज हमारा जन्म सफल हुआ, नेत्रोंका होना सार्थक हुआ, शरीरके सम्पूर्ण ताप इसी क्षण विलीन हो गये। हृदय आनन्दसे भर गया, मनके सभी सन्ताप मिट गये। अधिक क्या कहें, आज हमारा दूसरा जन्म ही हुआ है, जो कि यतीन्द्र श्रीगौरप्रभु पुनः नीलाचलको लौट आये।

निरन्तर आनन्दविहारमें ही निमग्न रहेंगे, किन्तु जब भक्तोंने सुना, प्रभु वृन्दावनसे लौट आये हैं, तब तो उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही और सभी प्रेमोन्मत्त होकर संकीर्तन करते हुए एक स्थानपर एकत्रित होने लगे। सभी मिलकर प्रभुको लेने चले। सार्वभौम भट्टाचार्य और राय रामानन्दजी उन सभी भक्तोंके अग्रणी थे। उन्होंने दूरसे देखा, काषायाम्बर धारण किये हुए प्रभु श्रीहरिके मधुर नामोंका उच्चारण करते-करते मत्त गजेन्द्रकी भाँति आनन्दमें विभोर हुए श्रीमन्दिरकी ओर चले आ रहे हैं; तब तो सभीने भूमिमें लोटकर प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया। अपने पैरोंके नीचे पड़े हुए सभी भक्तोंको प्रभुने अपने कोमल करोंसे स्वयं उठाया और सभीको एक-एक करके छातीसे लगाया। आज चिरकालके अनन्तर प्रभुका प्रेमालिङ्गन प्राप्त करके सभीको परम प्रसन्नता हुई और सभी अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे।

भक्तोंको साथ लेकर प्रभु श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये गये। पुजारीने प्रभुको देखते ही उनके चरणोंमें प्रणाम किया और उन्हें जगन्नाथजीकी प्रसादी माला पहिनायी तथा उनके सम्पूर्ण शरीरपर प्रसादी चन्दनका लेप किया। आज चिरकालमें जगन्नाथजीके दर्शन करके भक्त-चूडामणि श्रीगौराङ्ग प्रेममें विह्वल होकर जोरोंसे रुदन करने लगे। भक्तोंने मन्दिरके श्रीआँगनमें ही सङ्कीर्तन आरम्भ कर दिया। नर्तकोंके अग्रणी श्रीचैतन्यदेव दोनों हाथोंको ऊपर उठा-उठाकर नृत्य करने लगे। महाप्रभुके नृत्यको देखनेके लिये लोगोंकी अपार भीड़ वहाँ आकर एकत्रित हो गयी। सभी प्रभुके उद्दण्ड नृत्यको देखकर अपने आपेको भूल गये और भावावेशमें आकर सभी—

हरिहरये नमः कृष्णयादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

—कह-कहकर नृत्य करने लगे ।

कुछ कालके अनन्तर प्रभुने सङ्कीर्तन बन्द कर दिया और आप श्रीमन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए भक्तोंके सहित काशी मिश्रके घर अपने पूर्वके निवासस्थानपर आये । मिश्रजीने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया । इतनेमें ही परमानन्दपुरी भी प्रभुका आगमन सुनकर भीतरसे बाहर निकल आये । प्रभुने श्रद्धापूर्वक पुरीके चरणोंमें प्रणाम किया । पुरी महाराजने प्रभुका आलिङ्गन किया और वे उन्हें हाथ पकड़कर भीतर ले गये । सभीके बैठ जानेपर प्रभु अपनी यात्राका वृत्तान्त बताने लगे । व्रजमण्डलकी बातें करते-करते उनका गला भर आया, नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी । तब सार्वभौमने प्रभुसे अपने यहाँ भिक्षा करनेकी प्रार्थना की ।

प्रभुने कहा—'भट्टाचार्य महाशय ! आज चिरकालमें तो मेरी भक्तोंसे भेंट हुई है, तिसपर भी मैं अकेला ही भिक्षा करूँ, यह मुझे अच्छा नहीं प्रतीत होता । आज तो मेरी इच्छा है कि अपने सभी भक्तोंके सहित यहीं भगवान्का प्रसाद पाऊँ ।' इस बातसे भट्टाचार्यको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे काशी मिश्र, वाणीनाथ तथा और भी दो-चार भक्तोंको साथ लेकर महाप्रसाद लेने चले । सभी भक्तोंके खाने योग्य बहुत बढ़िया-चढ़िया बहुत-सी प्रसादी वस्तुएँ भट्टाचार्यजीने वहाँ लाकर उपस्थित कर दीं । प्रभुने भक्तोंको साथ लेकर बड़े ही स्नेहके सहित भगवान्का प्रसाद पाया । प्रभुके पास प्रसाद पानेसे सभीको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई, सभी अपने-अपने भाग्यकी प्रशंसा करने लगे । प्रसाद पाकर प्रभु विश्राम करने लगे और भक्त अपने-अपने घरोंको चले गये ।

इधर स्वरूप गोस्वामीने दामोदर पण्डितके हाथों प्रभुके आगमनका सुखद संवाद नवद्वीपमें शची माता, विष्णुप्रिया तथा अन्यान्य सभी भक्तोंके

समीप पठाया। प्रभुके आगमनका संवाद सुनकर गौरभक्त आनन्दके सहित नृत्य करने लगे। वे जल्दी-जल्दी रथ-यात्राके समयकी प्रतीक्षा करने लगे। श्रीशिवानन्द सेन समाचार सुनते ही यात्राकी तैयारियाँ करने लगे। शान्तिपुरनिवासी श्रीअद्वैताचार्य अपने सभी भक्तोंके सहित नीलाचलके लिये तैयार हुए। श्रीनित्यानन्दजी अपने परिकरके साथ प्रभुदर्शनकी लालसासे पुरी पहुँचनेकी उत्सुकता प्रकट करने लगे। श्रीखण्ड, कुलियाग्राम, काञ्चनपाड़ा, कुमारहट्ट, शान्तिपुर तथा नवद्वीपके सैकड़ों भक्त प्रभुदर्शनोंकी लालसासे चले। सदाकी भाँति श्रीशिवानन्द सेनजीने ही सबकी यात्राका प्रबन्ध किया। सभी भक्त तथा भक्तोंकी स्त्रियाँ प्रभुके निमित्त भाँति-भाँतिके पदार्थ लेकर और विष्णुप्रिया तथा शची मातासे आज्ञा माँगकर प्रभुके दर्शनोंके निमित्त रथयात्राको उपलक्ष्य बनाकर पैदल ही पुरीकी ओर चल दिये। अबके शिवानन्दजीके साथ उनका कुत्ता भी चला। उन्होंने उसे बहुत रोका, किन्तु वह किसी प्रकार भी न रुका, तब तो सेन महाशय उसे भोजन कराते हुए साथ-ही-साथ ले चले। रास्तेमें घाटवालोंने कुत्तेको पार उतारनेमें कई जगह आनाकानी भी की, किन्तु सेन महाशय प्रचुर द्रव्य देकर उसे जिस किसी भाँति पार करा ही ले गये। एक दिन उन्हें घाटवालोंसे उतराईका हिसाब करते-करते बहुत देर हो गयी। उनके नौकर कुत्तेको भात देना भूल ही गये। इससे कुत्ता क्रुद्ध होकर और इन सबका साथ छोड़कर न जाने किधर चला गया। जब शिवानन्दजीने कुत्तेकी खोज करायी तो उसका कहीं भी पता नहीं चला, इससे उन्हें अपार दुःख हुआ।

दूसरे दिन सभी भक्त प्रभुके समीप पहुँचे। भक्तोंने देखा कि वही कुत्ता प्रभुके समीप बैठा है और प्रभु उसे अपने हाथसे खीर खिला रहे हैं और हँसते-हँसते उससे कह रहे हैं—

कृष्ण कहो, राम कहो, हरि भजो बावरे।
हरिके भजन बिनु खाओगे क्या पामरे॥

प्रभुकी मधुर वाणीको सुनकर कुत्ता प्रेमपूर्वक पूँछ हिलाता हुआ अपनी भाषामें राम, कृष्ण, हरि आदि भगवान्‌के सुमधुर नामोंका कीर्तन कर रहा था। शिवानन्द सेन उस कुत्तेको प्रभुके पास बैठा देखकर परम आश्चर्य करने लगे। वह कुत्ता पहले कभी जगन्नाथपुरीमें नहीं आया था और न उसने प्रभुका निवासस्थान देखा था, फिर यह अकेला ही यहाँ कैसे आ गया? सेन महाशय समझ गये कि यह कोई पूर्वजन्मका सिद्ध है, किसी कारणवश इसे कुत्तेकी योनि प्राप्त हो गयी है। तभी तो प्रभु इसे इतना अधिक प्यार कर रहे हैं, यह सोचकर उन्होंने कुत्तेको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। कुत्ता पूँछ हिलाता हुआ वहाँसे कहीं अन्यत्र चला गया। इसके अनन्तर फिर किसीने उस कुत्तेको नहीं देखा।

महाप्रभु सभी भक्तोंसे मिले। भक्तोंकी पत्नियोंने प्रभुको दूरसे ही प्रणाम किया। प्रभु स्त्रियोंकी ओर न तो कभी देखते थे, न उनका स्पर्श करते थे और न स्त्रियोंके सम्बन्धकी बातें ही सुनते थे। स्त्रियोंका प्रसङ्ग छिड़ते ही प्रभु अत्यन्त ही सङ्कुचित हो जाते और उस प्रसङ्गको जल्दी-से-जल्दी समाप्त कर देते।

नवद्वीपमें प्रभुके घरके समीप एक परमेश्वर नामका एक भक्त रहता था। वह लड्डू बेचकर अपने परिवारका निर्वाह करता था। बाल्यकालसे ही वह प्रभुके प्रति अत्यन्त ही स्नेह रखता था। जब महाप्रभु बहुत ही छोटे थे, तभी परमेश्वर उन्हें गोदमें बिठाकर उनसे 'हरि' 'हरि' बुलवाया करता था और खानेके लिये रोज लड्डू देता था। प्रभु भी उससे बहुत स्नेह करते थे। अब वह बूढ़ा हो गया था, अबके वह भी अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके सहित प्रभुके दर्शनोंको आया था। प्रभुके पास भीतर

स्त्रियाँ नहीं जाती थीं, वे दूरसे ही प्रभुका दर्शन करती थीं। भक्त परमेश्वर-को इस बातका क्या पता था। उसने अपने काँपते हुए हाथोंसे भूमिमें लोटकर प्रभुको प्रणाम किया और प्रेमके साथ कहने लगा—'प्रभो! अपने परमेश्वरको तो भूल ही गये होंगे। मुझे अब शायद न पहिचान सकेंगे।'

प्रभुने उसका आलिङ्गन करते हुए अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'परमेश्वर! भला, तुम्हें मैं कभी भूल सकता हूँ? तुम्हारे लड्डू तो अभीतक मेरे गलेमें ही अटके हुए हैं, वे नीचे भी नहीं उतरे! तुम मुझे पुत्रकी तरह प्यार करते थे।'

परमेश्वरने बड़े ही उल्लासके साथ कहा—'प्रभो! आपका पुत्र, पुत्रवधू तथा घरसे सभी आपके दर्शनोंके लिये आये हैं। वे सभी आपके दर्शनोंको उत्सुक हैं।' यह कहकर भक्तने सभीसे प्रभुके पाद स्पर्श कराये। भक्तवत्सल प्रभु सङ्कोचके कारण कुछ भी न कह सके। वे लज्जित भावसे नीचा सिर किये हुए चुपचाप बैठे रहे। परमेश्वरके चले जानेपर भक्तोंने उसे समझाया कि प्रभुके समीप सपरिवार नहीं जाया जाता। बेचारा सरल भक्त इस बातको क्या समझे। उसकी समझमें कुछ भी नहीं आया। तब भक्तोंने उसे समझा दिया। इस प्रकार सभी भक्त प्रभुके समीप रह-कर पूर्वकी भाँति सत्सङ्गके सुखका अनुभव करने लगे। भक्तोंकी पत्नियाँ बारी-बारीसे रोज प्रभुका निमन्त्रण करतीं और उन्हें अपने निवासस्थान-पर बुलाकर भिक्षा करातीं।

इधर प्रभुके दर्शनोंकी लालसासे श्रीरूपजी अपने भाई अनूपके सहित गौड़ देश होते हुए पुरीको आने लगे। रास्तेमें अनूपजीको ज्वर आ गया, दैवकी गति, ज्वर-ही-ज्वरमें वे इस नश्वर शरीरको परित्याग करके परलोकवासी बन गये। श्रीरूपने अत्यन्त ही दुःखके साथ अपने कनिष्ठ भाईका शरीर गङ्गाजीके पावन प्रवाहमें प्रवाहित कर दिया और

वे संसारकी अनित्यताका विचार करते हुए पुरीमें आये। श्रीवृन्दावनमें ही उन्होंने श्रीकृष्णलीलाविषयक एक नाटक लिखना आरम्भ कर दिया था। रास्तेमें वे नाटकके विषयको सोचते जाते थे और रात्रिको जहाँ ठहरते थे, वहीं उस सोचे हुए विषयको लिख लेते थे। उनकी इच्छा थी कि एक ही नाटकको दो भागोंमें विभक्त करेंगे, पूर्व भागमें तो श्रीकृष्णकी वृन्दावन-लीलाओंका वर्णन करके दूसरेमें द्वारकाकी लीलाओंका वर्णन करेंगे। इसी विचारसे वे श्रीकृष्णकी सभी लीलाओंको सम्मिलितरूपसे ही लिख रहे थे। रास्तेमें चलते-चलते जब वे उड़िया देशमें 'सत्यभामापुर' नामक ग्राममें आये, तो वहाँ स्वप्नमें श्रीसत्यभामाजीने प्रत्यक्ष होकर इन्हें आदेश दिया कि 'तुम हमारी लीलाओंका पृथक् ही वर्णन करो। व्रजकी लीलाओंके साथ हमारा वर्णन मत करो।' श्रीसत्यभामाजीका आदेश पाकर आपने उसी समय द्वारकाकी लीलाओंका पृथक् वर्णन करनेका निश्चय किया और उसका वर्णन उन्होंने 'ललितमाधव' नामक नाटकमें किया। उसी समय 'विदग्धमाधव और ललितमाधव' इन दोनों नामोंकी उत्पत्ति हुई।

नीलाचलमें पहुँचकर ये प्रभुके समीप नहीं गये। ये दोनों ही भाई नम्रताकी तो सजीव मूर्ति ही थे, यवनोंके संसर्गमें रहनेके कारण ये अपनेको अत्यन्त ही नीच समझते थे और यहाँतक कि मन्दिरमें घुसकर दर्शन भी नहीं करते थे, दूरसे ही जगन्नाथजीकी ध्वजाको प्रणाम कर लेते थे। इसीलिये रूपजी महात्मा हरिदासजीके स्थानपर जाकर ठहरे। हरिदासजी तो जातिके यवन थे, किन्तु गौरभक्त उनका चतुर्वेदी ब्राह्मणोंसे भी अधिक सम्मान करते थे, वे भी जगन्नाथजीके मन्दिरमें प्रवेश नहीं करते थे। यहाँतक कि जिस रास्तेसे मन्दिरके पुजारी और सेवक जाते थे, उस रास्तेसे भी कभी नहीं निकलते थे। प्रभु नित्यप्रति समुद्रस्नान करके हरिदासजीके स्थानपर आते थे। दूसरे दिन जब प्रभु

नित्यकी भाँति हरिदासजीके आश्रमपर आये, तब श्रीरूपजीने भूमिपर लोटकर प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभुकी दृष्टि ऊपरकी ओर थी। हरिदासजीने धीरेसे कहा—'प्रभो! रूपजी प्रणाम कर रहे हैं।'

रूपका नाम सुनते ही चौंककर प्रभुने कहा—'हैं! क्या कहा? रूप आये हैं क्या?' यह कहते-कहते प्रभुने उनका आलिङ्गन किया और उन्हें वहीं रहनेकी आज्ञा दी। इसके अनन्तर प्रभुने सभी गौड़ीय तथा पुरीके भक्तोंके साथ श्रीरूपजीका परिचय करा दिया। श्रीरामानन्द राय और सार्वभौम महाशय दोनों ही कवि थे। रूपजीका परिचय पाकर ये दोनों ही परम सन्तुष्ट हुए और प्रभुसे इनकी कविता सुननेके लिये प्रार्थना करने लगे।

एक दिन प्रभु राय रामानन्दजी, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप-दामोदर तथा अन्यान्य भक्तोंको साथ लेकर हरिदासजीके निवासस्थान-पर श्रीरूपजीके नाटकोंको सुननेके लिये आये। सबके बैठ जानेपर प्रभुने रूपजीसे कहा—'रूप! तुम अपने नाटकोंको इन लोगोंको सुनाओ। ये सभी काव्यमर्मज्ञ, रसज्ञ और कवि हैं।'

इतना सुनते ही रूपजी लज्जाके कारण पृथ्वीकी ओर ताकने लगे। उनके मुखसे एक भी शब्द नहीं निकला। तब प्रभुने बड़े ही स्नेहके साथ कहा—'वाह जी, यह अच्छी रही! हम यहाँ तुम्हारी कविता सुनने आये हैं, तुम शरमाते हो!! शरमकी कौन-सी बात है? कविताका तो फल ही यह है कि वह रसिकोंके सामने सुनायी जाय। हाँ, सुनाओ, सङ्कोच मत करो। देखो, ये राय बड़े भारी रसमर्मज्ञ हैं। इन्हें तो हम पकड़ लाये हैं।'

रायने कहा—'हाँ जी, सुनाइये। इस प्रकार शरमानेसे काम न चलेगा। पहले तो अपने नाटकका नाम बताइये, फिर विषय बताइये, तब उसके कहीं-कहींके स्थलोंको पढ़कर सुनाइये।' इसपर भी रूप चुप ही रहे।

तब प्रभु स्वयं कहने लगे—'इन्होंने 'ललितमाधव' और 'विदग्धमाधव'—ये दो नाटक लिखे हैं। 'विदग्धमाधव' में तो भगवान्‌की व्रजकी लीलाओंका वर्णन है और 'ललितमाधव'में द्वारकापुरीकी लीलाओंका। इनसे ही सुनिये। इन्होंने रथके सम्मुख नृत्य करते समय जो मेरे भावोंको समझकर श्लोक बनाया था, उसे तो मैंने आपलोगोंको सुना ही दिया, अब इनके नाटक-मेंसे कुछ सुनिये।'

रायने कुछ प्रेमपूर्वक भर्त्सनाके स्वरमें कहा—'क्यों जी, सुनाते क्यों नहीं ! देखो प्रभु भी कह रहे हैं ! प्रभुकी आज्ञा नहीं मानते ! हाँ, पहले विदग्धमाधवका मङ्गलाचरण सुनाइये। नान्दीके मुखसे भगवान्‌की बन्दनामें जो प्रारम्भमें श्लोक कहा गया है उसे ही सुनाइये।' इतना सुनते ही लजाते हुए श्रीरूपजी धीरे-धीरे 'विदग्धमाधव'का मङ्गलाचरण पढ़ने लगे—

सुधानां चान्द्रीनामपि मधुरिमोन्माददमनी
दधाना राधादिप्रणयघनसारैः सुरभिताम्।
समन्तात् सन्तापोद्गमविषमसंसारसरणी-
प्रणीतां ते तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी ॥*

(विदग्धमाधव ना० १।१)

---

* जो चन्द्रमामें उत्पन्न हुए अमृतकी मधुरिमाके मदको चूर्ण करनेवाली है अर्थात् चन्द्रामृतसे भी मीठी है, और श्रीराधादि व्रजाङ्गनाओंके प्रणयरूपी कपूरद्वारा विशेषरूपसे सुगन्धित बनी हुई है, वह हरि-लीला-रूपिणी शिखरिणी (श्रीखण्ड) सन्तापको उत्पन्न करनेवाले विषम संसारमार्गमें भ्रमण करनेसे उत्पन्न हुई तृष्णाको सब ओरसे मिटा दे (दही, मीठा, कपूर, इलायची, केशर आदि डालकर श्रीखण्ड बनाते हैं। यहाँ प्रेम, प्रेमयुक्त लीला, हाव-भाव, कटाक्ष और व्रजाङ्गनाओंके प्रबल प्रणय आदिको मिलाकर हरिलीलारूपी श्रीखण्ड तैयार किया गया है)।

श्लोकको सुनते ही सभी एकस्वरमें 'वाह ! वाह !!' करने लगे। श्रीरूपजीका लज्जाके कारण मुख लाल पड़ गया, वे नीचेकी ओर देख रहे थे। इसपर रायने कहा—'रूपजी ! आप तो बहुत ही अधिक सङ्कोच करते हैं। इसीलिये, लीजिये, मैं आपके काव्यकी प्रशंसा ही नहीं करता। अच्छा, तो यह तो भगवान्‌की वन्दना हुई। अब भगवत्स्वरूप जो गुरुदेव हैं, जो कि प्राणियोंके एकमात्र भजनीय और इष्ट हैं, भगवत्-वन्दनाके अनन्तर उनकी वन्दनामें जो कुछ कहा हो, उसे और सुनाइये।'

यह सुनकर श्रीरूपजी और भी अधिक सिकुड़ गये। महाप्रभुके सम्मुख उन्हींके सम्बन्धका श्लोक पढ़नेमें उन्हें बड़ी घबड़ाहट-सी होने लगी। किन्तु, फिर भी राय महाशयके आग्रहसे रुक-रुककर वे लजाते हुए पढ़ने लगे—

> अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
> समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
> हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
> सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥*
>
> (विदग्धमाधव ना० १ । २)

इसे सुनते ही प्रभु कहने लगे—'भगवान् जाने इन कवियोंको राजा लोग दण्ड क्यों नहीं देते ? किसीकी प्रशंसा करने लगते हैं, तो

---

* अपनी उत्कृष्ट एवं उज्ज्वल रसमयी भक्तिसम्पदाको, जो बहुत दिनोंसे किसीको अर्पित नहीं की गयी है, बाँटनेके लिये ही जिन्होंने दयावश कलियुगमें अवतार धारण किया है, वे सुवर्णके समान सुन्दर कान्तिसे देदीप्यमान शचीनन्दन (श्रीगौराङ्ग) तुम्हारे हृदयमें स्फूर्ति काम करें।

आकाश-पाताल एक कर देते हैं। इनसे बढ़कर झूठा और कौन होगा? इस श्लोकमें तो अतिशयोक्तिकी हद कर डाली है।'

रायने कहा—'प्रभो! इसे तो हम ही समझ सकते हैं, यथार्थ वर्णन तो इसी श्लोकमें किया गया है। ऐसे स्वाभाविक गुणपूर्ण श्लोककी रचना सभी कवि नहीं कर सकते।' इतना कहकर रायने 'विदग्धमाधव' के अन्य भी बहुत-से स्थलोंको सुना और सुनकर उनके काव्यकी हृदयसे भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'विदग्धमाधव' को सुन लेनेपर राय रामानन्दजी कहने लगे—'अपने दूसरे नाटक 'ललितमाधव' की माधुरीकी बानगी भी इन सभी उपस्थित भक्तोंको चखा दीजिये। हाँ, उसका भी पहले मङ्गलाचरणका श्लोक सुनाइये।'

यह सुनकर श्रीरूपजी फिर उसी लहजेके साथ श्लोक पढ़ने लगे—

सुररिपुसुदृशामुरोजकोकान्
मुखकमलानि च खेदयन्नखण्डः।
चिरमखिलसुहृच्चकोरनन्दी
दिशतु मुकुन्दयशःशशी मुदं वः॥*
(ललितमा० ना० १।१)

धन्य है, धन्य है और साधु-साधुकी ध्वनि समाप्त होनेपर राय महाशयने कहा—'श्रीभगवान्की स्तुतिके अनन्तर इष्टस्वरूप श्रीगुरुदेव-

* असुरोंकी स्त्रियोंके स्तनरूप चकवाओंको और मुखरूपी कमल-समूहोंको जो शोकग्रस्त बनाते हैं और अपने चकोरवृन्दके समान समस्त सुहृद्वर्गको (अपनी सुन्दर शीतल किरणोंसे) सुखी बनाते हैं वे ही श्रीमुकुन्दके यशरूपी पूर्ण चन्द्र तुम्हें चिरकालतक प्रसन्नता प्रदान करें।

की स्तुतिमें जो श्लोक हो उसे भी सुनाइये। उसके श्रवणसे यहाँ सभी उपस्थित भक्तोंको अत्यन्त ही आह्लाद होगा। हाँ, सुनाइये।'

प्रभुकी ओर न देखते हुए धीरे-धीरे श्रीरूपजी पढ़ने लगे—

निजप्रणयितां सुधामुदयमाप्नुवन् यः क्षितौ
किरत्यलमुरीकृतद्विजकुलाधिराजस्थितिः ।
स लुञ्चिततमस्ततिर्मम शचीसुताख्यः शशी
वशीकृतजगन्मनाः किमपि शर्म विन्यस्यतु ॥*
(ललितमा० १ । २)

इस श्लोकको सुनते ही प्रभु कुछ बनावटी क्रोधके स्वरमें कहने लगे—'रूपने और सम्पूर्ण काव्य तो बहुत ही सुन्दर बनाया है इनका एक-एक श्लोक अमूल्य रत्नके समान है, किन्तु जाने क्या समझकर इन्होंने ये दो-एक अतिशयोक्तिपूर्ण श्लोक मणियोंमें काँचके टुकड़ोंके समान मिला दिये हैं!'

इसपर भक्तोंने एक स्वरसे कहा—'हमें तो यही श्लोक सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुआ है।' बातको यहीं समाप्त करनेके लिये राय महाशयने कहा—'अच्छा, छोड़िये इस प्रसङ्गको। आगे काव्यकी मधुरिमाका पान कीजिये। हाँ, रूपजी! इस नाटकके भी भावपूर्ण अच्छे-अच्छे स्थल पढ़कर सुनाइये।'

---

* जो अवनिपर उदित होकर द्विजराजकी स्थितिमें रहते हुए निज प्रणयरूपी रसामृतको वितीर्ण कर रहे हैं और अज्ञानरूपी अन्धकारसमूहको दूर करते हैं, वे ही सम्पूर्ण जगत्के मनको वशमें करनेवाले 'शचीनन्दन' नामके चन्द्रमा हमारा कल्याण करें—हमारे लिये मङ्गल विधान करें।

इतना सुनते ही श्रीरूपजी नाटकके अन्यान्य स्थलोंको बड़े स्वरके साथ सुनाने लगे। सभी रसमर्मज्ञ भक्त उनके भक्तिभावपूर्ण काव्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। अन्तमें प्रभु रूपजीका प्रेमसे आलिङ्गन करके भक्तोंको साथ लेकर अपने स्थानपर चले गये।

इस प्रकार भक्तोंके साथ रथयात्रा और चातुर्मासके सभी त्यौहारों तथा पर्वोंको पहलेकी भाँति धूमधामसे मनाकर, क्वारके दशहरेके बाद भक्तोंको गौड़के लिये विदा किया। नित्यानन्दजीसे प्रभुने प्रतिवर्ष पुरी न आनेका पुनः आग्रह किया, किन्तु उन्होंने प्रभुप्रेमके कारण इसे स्वीकार नहीं किया। सभी भक्त गौड़ देशको लौट गये। श्रीरूप कुछ दिनों प्रभुके पास और रहे। अन्तमें कुछ समयके पश्चात् प्रभुने उन्हें वृन्दावनमें ही जाकर निवास करनेकी आज्ञा दी। प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे गौड़ देश होते हुए वृन्दावन जानेके लिये उद्यत हुए। यही इनकी प्रभुसे अन्तिम भेंट थी। यहाँसे जाकर ये अन्तिम समयतक श्रीवृन्दावनकी पवित्र भूमिमें ही श्रीकृष्णकीर्तन करते हुए निवास करते रहे। व्रजकी परम पावन भूमिको छोड़कर ये एक रात्रिके लिये भी व्रजसे बाहर नहीं गये। प्रभुने जाते समय इनका प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और भक्तिविषयक ग्रन्थोंके प्रणयनकी आज्ञा प्रदान की। इन्होंने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीकृष्णके गुणगानमें ही अपना सम्पूर्ण समय बिताया। गौड़में इनकी कुछ धन-सम्पत्ति थी, उसका परिवारवालोंमें यथारीति विभाग करनेके निमित्त इन्हें गौड़ भी जाना था, इसलिये ये प्रभुसे विदा होकर गौड़ देशको ही गये और वहाँ इन्हें लगभग एक वर्ष धन-सम्पत्तिकी व्यवस्था करनेके निमित्त ठहरना पड़ा।

नीलाचलमें श्रीसनातनजी

वृन्दावनात् पुनः प्राप्तं श्रीगौरः श्रीसनातनम् ।
देहपातादवन् स्नेहाच्छुद्धं चक्रे परीक्षया ॥*
(श्रीचैतन्य चरि० अ० ली० ४ । १)

श्रीरूप तो सम्पत्तिकी व्यवस्था करनेके निमित्त गौड़ देशमें ठहरे हुए हैं, अब इनके भाई श्रीसनातनजीका समाचार सुनिये । सनातनजीने 'मथुरामाहात्म्य' हस्तगत करके उसीके अनुसार व्रजमण्डलके समस्त तीर्थोंकी यात्रा की । यात्राके अनन्तर उन्हें अपने भाईसे भेंट करने तथा प्रभुके दर्शनोंकी इच्छा हुई । अपने भाइयोंका समाचार जाननेके लिये वे व्रजसे नीलाचलकी ओर चल पड़े । गौड़ तो उन्हें जाना ही नहीं था, क्योंकि ये जेलरको इस बातका वचन दे आये थे । अतः प्रयागसे काशी होते हुए झाड़ीखण्डके विकट रास्तेसे ये पुरीकी ही ओर चले । इन्होंने सब लोगोंके जानेवाले राजमार्गसे यात्रा करना उचित नहीं समझा, इसीलिये ये जङ्गलके कण्टकाकीर्ण भयङ्कर पथके ही पथिक बने । रास्तेमें जङ्गलकी झाड़ियोंकी विषैली वायु लगनेसे इनके सम्पूर्ण अङ्गमें भयङ्कर खुजली हो गयी । खुजली पक भी गयी और उससे पीब बहने लगा । जैसे-तैसे ये पुरीमें पहुँचे । पुरीमें ये कहाँ ठहरें ? पहले कभी आये नहीं थे । इतना इन्होंने सुन रक्खा था कि प्रभु कहीं मन्दिरके ही समीपमें रहते हैं, किन्तु यवनोंके संसर्गी होनेके कारण ये अपनेको मन्दिरके समीप जानेका अधिकारी ही नहीं समझते थे, इसलिये ये महात्मा हरिदासजीका स्थान पूछते-पूछते वहाँ पहुँचे । हरिदासजी इन्हें

---

* श्रीवृन्दावनसे लौटे हुए श्रीसनातनको महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवने श्रीजगन्नाथजीके रथके चक्रके नीचे दबकर मरनेके विचारसे हटाकर और कठिन परीक्षा करके शुद्ध बना दिया ।

देखते ही खिल उठे और इनकी यथायोग्य अभ्यर्चना की। सनातन प्रभुके दर्शनोंके लिये बड़े उत्सुक हो रहे थे, किन्तु मन्दिरके समीप न जानेके लिये विवश थे, तब हरिदासजीने इन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—'आप घबड़ाइये नहीं, प्रभु यहाँ नित्यप्रति आते हैं, वे अभी आते ही होंगे।' इतनेमें ही दोनोंने श्रीहरिके मधुर नामोंका संकीर्तन करते हुए प्रभुको दूरसे आते हुए देखा। प्रभुको देखते ही एक ओर हटकर श्रीसनातनजी भूमिपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे। हरिदासजीने कहा—'प्रभो, सनातन साष्टाङ्ग कर रहे हैं।' 'सनातन यहाँ कहाँ?' इतना कहते हुए प्रभु जल्दीसे सनातनका आलिङ्गन करनेके लिये दौड़े। प्रभुको अपनी ओर आते देखकर सनातनजी जल्दीसे उठकर एक ओर दौड़े और कातर स्वरसे कहते जाते थे—'प्रभो, मैं नीच एक तो वैसे ही अधम, नीच और यवनसंसर्गी था, तिसपर भी मेरे सम्पूर्ण शरीरमें खाज हो रही है। आप मेरा स्पर्श न करें।' किन्तु प्रभु कब सुननेवाले थे! जल्दीसे दौड़कर उन्होंने बलपूर्वक सनातनजीको पकड़ लिया और उनका गाढ़ालिङ्गन करते हुए वे कहने लगे—'आज हम कृतार्थ हो गये। सनातनके शरीरकी सुन्दर सुगन्धिको सूँघकर हमारे लोक-परलोक दोनों ही सुधर गये।' सचमुच प्रभुने सनातनजीके दिव्य शरीरमेंकी खाजमें-से एक प्रकारकी दिव्य सुगन्धिका अनुभव किया। सनातनजी सङ्कोचके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। महाप्रभुकी अपार अनुकम्पाके भारसे दबे हुए वे विवश होकर पृथ्वीकी ओर देखने लगे। महाप्रभुकी अहैतुकी कृपाके स्मरणसे उनका हृदय पिघल रहा था और वह पानी बन-बनकर आँखोंके द्वारा निकलकर प्रभुके काषाय रंगवाले वस्त्रोंको भिगो रहा था।

थोड़ी देरके अनन्तर प्रभु वहीं एक आसनपर बैठ गये। नीचे सिर किये हुए भूमिपर सनातनजी और हरिदासजी बैठ गये। प्रभुने धीरे-धीरे रूपके आनेका और उनके मिलने आदिका सभी वृत्तान्त सुना

दिया। इसी प्रसंगमें प्रभुने श्रीअनूपके परलोकगमनका समाचार भी सुना दिया। भाईके वैकुण्ठवासका समाचार सुनकर वीतराग महात्मा सनातनजीका भी हृदय उमड़ आया। वे अपने अश्रुओंके प्रभावको रोक नहीं सके। प्रभुके कमलमुखपर भी कुछ विषण्णताके भाव प्रतीत होने लगे। प्रभुने धीरे-धीरे भर्राई हुई आवाजसे कहा—'सनातन! तुम्हारे भाईने सद्गति पायी। वे परमभागवत पुरुषोंके लोकमें परमानन्द-सुखका अनुभव करते होंगे, उनसे बढ़कर सौभाग्यशाली हो ही कौन सकता है, जिन्होंने देहत्यागके पूर्व अपना घरबार त्याग दिया, व्रजमण्डलके सभी तीर्थोंकी यथाविधि यात्रा की और अन्तिम समयमें अपने परमभागवत गुरुस्वरूप ज्येष्ठ भ्राता श्रीरूपजीकी गोदमें सिर रखकर भगवती भागीरथीके रम्य तटपर इस नश्वर शरीरको त्याग दिया और वैकुण्ठवासी बन गये, उन महाभागके निमित्त तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। ऐसी मृत्युके लिये तो इन्द्रादि देवता भी तरसते हैं।'

रुँधे हुए कण्ठसे आँसू पोंछते हुए श्रीसनातनजीने कहा—'प्रभो! मैं उन महाभागके शरीरके लिये रुदन नहीं कर रहा हूँ। वे तो नित्य हैं, शाश्वत धाममें जाकर अपने इष्टदेव श्रीसीतारामजीके चरणाश्रित बन गये होंगे, किन्तु मुझे इसी बातका सोच रहा कि अन्तिम समय मैं उनके दर्शन नहीं कर सका। मैं अभागा उनके निधनकालके दर्शनोंसे वञ्चित ही रहा।'

प्रभुने करुण स्वरमें कहा—'रूप कहते थे, उनकी निष्ठा अलौकिक थी, अन्तिम समयमें उन्होंने श्रीसीतारामजीका ध्यान और स्मरण करते हुए प्रसन्नतापूर्वक ही शरीरत्याग किया।'

सनातनजीने पश्चात्तापके स्वरमें कहा—'प्रभो! मैं उनकी निष्ठा आपके सम्मुख क्या बताऊँ। कहनेको तो वे हमारे छोटे भाई थे, किन्तु

निष्ठामें वे हम दोनोंसे बढ़कर थे। उनकी-जैसी निष्ठा मैंने आजतक किसीमें भी नहीं देखी। हमारी तो निष्ठा ही क्या, उनके सामने हमारी निष्ठा तो नहींके ही समान है। वे सदा हमारे साथ रहते और तीनों ही मिलकर श्रीमद्भागवतकी कथा सुना करते। उनके इष्टदेव श्रीसीतारामजी थे। हम दोनोंने एक दिन परीक्षाके निमित्त उनसे कहा—'अनूप! तुम स्वयं समझदार हो, श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाओंकी अपेक्षा श्रीकृष्णचन्द्रजीकी लीलाओंमें अधिक माधुर्य है, इसलिये तुम श्रीकृष्णको ही अपना उपास्यदेव क्यों नहीं बना लेते। इससे तीनों ही भाई श्रीकृष्णोपासक होकर साथ-ही-साथ उपासना-भजन और कथा-कीर्तन किया करेंगे।' वे हम दोनोंका अत्यधिक आदर करते थे, हमारी बातको उन्होंने कभी नहीं टाला। हमारे ऐसे कथनको उन्होंने स्वीकार कर लिया और कहा—'आप दोनों भाई ही मेरे गुरु, माता, पिता तथा शिक्षक हैं। आप जैसा कहेंगे वैसा ही करूँगा। कल मुझे कृष्णमन्त्रकी ही दीक्षा दे देना।' इतना कहकर वे सोने चले गये। हमने देखा, वे रात्रिभर हाय-हाय करते रहे, एक क्षणको भी नहीं सोये। प्रातःकाल उन्होंने आकर हमसे कहा—'भाइयो! मैं क्या करूँ, यह सिर तो मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें चढ़ा चुका। रात्रिको मैंने बहुत चेष्टा की कि उस चढ़ाये हुए सिरको फिरसे लौटा लूँ, किन्तु मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। मैं इस शरीरको प्रसन्नतापूर्वक त्याग सकता हूँ, किन्तु मुझसे श्रीसीतारामजीकी उपासना न छोड़ी जायगी।' उनकी ऐसी ऐकान्तिक निष्ठाको देखकर हमें परम आश्चर्य हुआ और अपनी निष्ठाको बार-बार धिक्कारने लगे। सो, प्रभो! वे मेरे भाई सचमुच ही अनूप थे, उनकी उपमा किसीसे दी ही नहीं जा सकती।'

प्रभुने कहा—'यथार्थ निष्ठा तो इसीका नाम है। ठीक इसी प्रकार मैंने श्रीरामोपासक मुरारी गुप्तसे भी यही बात कही थी और उन्होंने भी यही उत्तर दिया था। सेव्य-सेवकका भाव इसी प्रकार ऐकान्तिक और दृढ़

होना चाहिये, जो किसी प्रकारके भी प्रलोभन आनेपर हिल न सके। तभी प्रभुप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है।' इस प्रकार प्रभु बहुत देरतक श्रीसनातन-जीसे बातें करते रहे। अन्तमें उन्हें वहीं हरिदासजीके ही समीप रहनेका आदेश देकर आप अपने स्थानके लिये चले गये और गोविन्दके हाथों दोनोंके ही लिये श्रीजगन्नाथजीका महाप्रसाद भिजवाया। इस प्रकार सनातनजी पुरीमें ही हरिदासजीके समीप रहने लगे। प्रभु नियमितरूपसे इन दोनोंको देखनेके लिये आया करते थे।

श्रीसनातनजी लगभग चैत्रमासमें पुरी पधारे थे। वे भीतर मन्दिरमें दर्शनोंके लिये न जाकर दूरसे ही मन्दिरकी पताकाको प्रणाम कर लेते थे। शरीरका भोग अच्छे-अच्छे महापुरुषोंको भी भोगना पड़ता है, सनातनजीकी भयङ्कर खाज अभी अच्छी नहीं हुई। खुजाते-खुजाते उनके सम्पूर्ण शरीरमें बड़े-बड़े घाव हो गये और उनमेंसे निरन्तर पीब बहता रहता था।

ज्येष्ठका महीना था। प्रभु पुरीसे चार-पाँच मीलकी दूरीपर यमेश्वर टोटामें गये हुए थे। बारह बजे उन्होंने सनातनको भी भिक्षाके लिये वहीं बुलाया। यमेश्वर जानेके लिये दो मार्ग थे—एक तो सिंहद्वार होकर सीधे सड़क-सड़क जाना होता है, दूसरे समुद्रके किनारे-किनारे भी यमेश्वर जा सकते हैं। ज्येष्ठकी प्रखर धूपके कारण समुद्र-किनारेकी बालू जल रही थी। यदि उसमें कच्चा चना डाल दिया जाय तो क्षणभरमें भुनकर खिल जाय। उस बालूमें मनुष्यकी तो बात ही क्या, बारह बजे पशु भी जानेमें हिचकता है, किन्तु जब सनातनजीने सुना कि प्रभुने मुझे बुलाया है, तब तो वे अपने भाग्यकी सराहना करते हुए उसी बालुकामय पथसे नङ्गे पैरों ही प्रभुके समीप पहुँचे। शरीरको तो सर्दी-गर्मीका सुख-दुख व्यापता ही है। सनातनजीके पैरोंमें बड़े-बड़े छाले पड़ गये। प्रभुने उन्हें देखते ही पूछा—'अरे, तुम इतनी धूपमें किधर होकर आये हो?'

सरलताके साथ सनातनजीने कहा—'प्रभो ! समुद्रतटके रास्तेसे ही आया हूँ ।'

प्रभुने उनके पैरोंके छालोंको देखते हुए कहा—'देखो, नङ्गे पैरों तप्त बालूमें आनेसे तुम्हारे पैरोंमें छाले पड़ गये । तुम सिंहद्वारके रास्तेसे होकर क्यों नहीं आये ?'

सनातनजीने दीनताके साथ कहा—'प्रभो ! सिंहद्वार होकर श्री-जगन्नाथजीके सेवक तथा दर्शनार्थी आते-जाते रहते हैं, उनसे कहीं भूलमें स्पर्श हो जाय तो मैं ही पापका भागी बनूँगा । इसी भयसे मैं सिंहद्वार होकर नहीं आया ।'

प्रभु इनकी ऐसी मर्यादा, दीनता और सरलताको देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और उनका जोरोंसे गाढ़ालिङ्गन करते हुए कहने लगे—'सनातन ! तुम धन्य हो, तुम्हीं वैष्णवताके सच्चे रहस्यको समझे हो । यद्यपि तुम्हारे लिये स्वयं कोई विधि-निषेध नहीं है, फिर भी तुम लोकमर्यादाके निमित्त ऐसा व्यवहार करते हो, यह सर्वश्रेष्ठ है । मनुष्य चाहे कितनी भी उन्नति क्यों न कर ले फिर भी उसे मर्यादाका उल्लंघन न करना चाहिये । क्योंकि मर्यादा भङ्ग करनेसे लोकनिन्दा होती है और लोकनिन्दासे सदा पतनका भय बना रहता है ।' सनातनके आलिङ्गनसे प्रभुके सुवर्णके समान सुन्दर शरीरमें कई जगह पीब लग गया, इससे सनातनजीको अपार दुख हुआ, वे सोचने लगे—'क्या करूँ, प्रभु तो मेरा आलिङ्गन विना किये मानते ही नहीं ! इसलिये अब इस भयङ्कर शरीरको रखकर क्या करूँगा । प्रभुके दर्शन तो हो ही गये । रथयात्राके दिन जगन्नाथजीके दर्शन और करके उन्हींके रथके नीचे पिचकर मर जाऊँगा ।'

महाप्रभु इनके मनोभावको समझ गये । वे एक दिन भक्तोंके सहित आकर सनातनजीसे बातें करने लगे । उन्होंने बातों-ही-बातोंमें कहा—

'सनातन ! शरीर त्यागनेसे तुमने क्या लाभ सोचा है ? मनुष्यका अन्तिम पुरुषार्थ प्रभुप्राप्ति है, यदि शरीर त्यागनेसे प्रभुप्राप्ति हो सके, तो मैं तो हजारों बार शरीर धारण करके उन्हें त्यागनेको तैयार हूँ । इस प्रकार शरीर त्यागना तामसी प्रवृत्ति है । जो संसारी तापोंसे खिन्न होकर किसी कारणसे शरीरसे ऊबकर प्राण त्याग देते हैं, उनकी सद्गति नहीं होती । उन्हें फिर कर्मोंके भोगके निमित्त आसुरी प्रकृतिके शरीर धारण करने होते हैं । शरीरका सदुपयोग श्रीकृष्णसंकीर्तन करनेमें ही है । यदि भगवन्नाम-चिन्तन और स्मरण बना रहता है तो फिर शरीर कैसी भी दशामें रहे, विवेकी पुरुषको शरीरकी कुछ भी परवा न करनी चाहिये ।'

प्रभुकी बात सुनकर नीचा सिर किये हुए सनातनजीने कहा—'प्रभो ! इस बेकार और अपवित्र शरीरको रखवाकर आप इससे क्या कराना चाहते हैं ? इससे तो अब दूसरोंको दुःखके सिवा किसी प्रकारका लाभ नहीं पहुँचता ।'

प्रभुने कहा—'तुम्हें हानि-लाभसे क्या ? तुम तो अपने शरीरको मुझे सौंप चुके । दान की हुई वस्तुको लौटाकर कोई उसका मनमाना उपयोग कर सकता है ? तुम्हारे जाने मैं इसका कुछ भी उपयोग करूँ, तुम्हें इसे नष्ट करनेका अधिकार नहीं है । इससे मुझे बड़े-बड़े काम कराने हैं ।'

सनातनजीने धीरेसे कहा—'प्रभो ! आपकी आज्ञाका उल्लंघन करनेकी शक्ति ही किसमें है ? जैसी आप आज्ञा करेंगे, वही मैं करूँगा ।'

इस प्रकार सनातनजीको समझा-बुझाकर प्रभु भक्तोंके सहित स्नानके लिये चले गये ।

सनातनजीने आत्मघातका विचार तो परित्याग कर दिया, किन्तु प्रभुके आलिंगन करनेके कारण उन्हें सदा संकोच बना रहता । वे

सदा प्रभुसे बचे ही रहते, किन्तु प्रभु उन्हें खोजकर आलिंगन करते। इससे वे सदा व्यथित-से बने रहते। एक दिन उन्होंने अपनी मनोव्यथा पुरीमें ही प्रभुके समीप निवास करनेवाले जगदानन्द पण्डितसे कही। जगदानन्दजीने कहा—'आपका पुरीमें ही रहना ठीक नहीं है। आषाढ़में रथयात्राके दर्शन करके यहाँसे सीधे वृन्दावन चले जाइये। आपके लिये प्रभुने वही देश दिया है, उस प्रभुदत्त देशमें जाकर भगवन्नाम-जप करते हुए समय व्यतीत कीजिये।'

सनातनजीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'पण्डितजी! आपने यह बड़ी ही उत्तम सम्मति दी। आषाढ़के पश्चात् मैं यहाँसे अवश्य ही चला जाऊँगा।' ऐसा निश्चय करके वे रथयात्राकी प्रतीक्षा करने लगे। एक दिन बातों-ही-बातोंमें उन्होंने प्रभुसे कहा—'प्रभो! मुझे पण्डित जगदानन्दजीने बड़ी सुन्दर सम्मति दी है। रथयात्रा करके मैं वृन्दावन चला जाऊँगा और वहीं रहूँगा।' प्रभु जगदानन्दजीके ऐसे भावको समझकर उनके ऊपर प्रेमका क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे—'जगदानन्द अपनेको अब बड़ा भारी पण्डित समझने लगा, जो सनातनजीको भी शिक्षा देने लगा। हमें शिक्षा दे तो ठीक भी है, सनातनजी तो अभी इसे सैकड़ों वर्षोंतक पढ़ा सकते हैं। मूर्ख कहींका, कलका छोकड़ा होकर इतने बड़े लोगोंको सम्मति देने चला है।'

इस बातको सुनकर जगदानन्दजी तो सन्न पड़ गये, काटो तो शरीरमें रक्त नहीं! वे डबडबाई आँखोंसे पृथ्वीकी ओर देखने लगे। तब सनातनजीने अत्यन्त ही विनम्र भावसे प्रभुके पैर पकड़े हुए कहा—'प्रभो! जगदानन्दजीने तो मेरे हितकी ही बात कही है। आप मुझ पतितको स्पर्श करते हैं, इस बातसे किसे दुःख न होगा? मैं स्वयं संकुचित बना रहता हूँ।'

प्रभुने फिर उसी स्वरमें कहा—'इसे मेरे शरीरकी इतनी चिन्ता क्यों ? यह शरीरको ही सब कुछ समझता है। इसे वैष्णवोंके माहात्म्यका पता नहीं। सनातनजीके शरीरको यह अन्य साधारण लोगोंके शरीरके समान समझता है। इसे पता नहीं, सनातनजीका शरीर चिन्मय है। उसे खुजली और कुष्ठ कहाँ ? यह तो उन्होंने मेरे प्रेमकी परीक्षाके निमित्त अपने शरीरमें उत्पन्न कर ली है कि मैं घृणा करके इनके शरीरको स्पर्श न करूँ। कोई भाग्यवान् पुरुष सनातनजीके शरीरको सूँघे तो सही, उसमेंसे दिव्य सुगन्ध निकलती रहती है। मैं कुछ सनातन-जीके ऊपर कृपा करनेके निमित्त उनका आलिंगन थोड़े ही करता हूँ, मैं तो उनके शरीर-स्पर्शसे अपने देहको पावन बनाता हूँ।'

प्रभुके मुखसे अपनी इतनी भारी प्रशंसा सुनकर सनातनजी रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो ! मैंने ऐसा कौन-सा घोर अपराध किया है, मेरे किन जन्मोंके अनन्त पाप आज आकर उदय हुए हैं, जो आप मुझे यह प्रशंसारूपी हलाहल विष पिला रहे हैं। जगदानन्दजीका आज भाग्य उदय हुआ। आज त्रिलोकीमें इनसे बढ़कर भाग्यवान् कौन होगा, जिनकी वात्सल्यस्नेहसे पुत्रकी भाँति प्रभु भर्त्सना कर रहे हैं। हाय, ऐसी प्रेममय भर्त्सना जिनके भाग्यमें बदा है, वे महानुभाव धन्य हैं ! गुरुजन जिनकी नित्य आलोचना करते रहते हैं, वे परम सौभाग्यशाली पुरुष हैं। हे करुणाके सागर प्रभो ! इस अधमको किस अपराधसे अपनेपनसे पृथक् करके आपने यह प्रशंसारूपी सर्पिणी बलपूर्वक मेरे गलेसे लपेट दी। नाथ ! मैं अब अधिक सहन न कर सकूँगा।'

सनातनजीकी ऐसी कातर वाणी सुनकर प्रभु कुछ लज्जित-से हो गये और अत्यन्त ही प्रेमके स्वरमें जगदानन्दजीकी ओर देखकर कहने लगे—'जगदानन्दने मेरे शरीरके स्नेहसे और तुम्हारे आग्रहसे ही

ऐसी सम्मति दे दी होगी। मैंने अपने क्रोधके आवेशमें ऐसी बातें इनके लिये कह दी। इसका कारण मेरा तुम्हारे ऊपर सहज स्नेह ही है। तुम इस वर्ष यहीं मेरे पास ही रहो, अगले वर्ष वृन्दावन जाना।' इतना कहकर प्रभुने सनातनजीका फिर जोरोंसे आलिंगन किया। बस, फिर क्या था! न जाने वह खुजली और उसकी पीड़ा कहाँ चली गयी!! उसी समय उनकी खाज अच्छी हो गयी और दो-चार दिनमें उनके घाव अच्छे होकर उनका शरीर सुवर्णके समान कान्ति-वाला बन गया।

रथयात्राके समय अद्वैताचार्य, नित्यानन्द आदि सभी गौड़ीय भक्त प्रतिवर्षकी भाँति अपने स्त्री-बच्चोंके सहित पुरीमें आये। प्रभुने उन सबसे सनातनजीका परिचय कराया। सनातनजी प्रभुके परम कृपापात्र इन सभी प्रेमी भक्तोंका परिचय पाकर परम प्रसन्न हुए और उन्होंने सभीकी चरणवन्दना की। सभीने सनातनजीकी श्रद्धा, दीनता और तितिक्षाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। बरसातके चार महीने रहकर सभी भक्त देशके लिये लौट गये, किन्तु सनातनजी वहीं रह गये। वे दूसरे वर्ष प्रभुसे विदा होकर और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके पुरीसे सीधे ही काशी होते हुए वृन्दावन पहुँचे। पुरीसे चलते समय वे बलभद्र भट्टाचार्यसे उस रास्तेके सभी स्थानोंके नाम लिख ले गये थे, जिस रास्तेसे प्रभु वृन्दावन गये थे उन सभी स्थानोंका दर्शन करते हुए और प्रभुकी लीलाओंका स्मरण करते हुए उसी रास्तेसे सनातनजी वृन्दावनतक पहुँचे। तबतक रूपजी वृन्दावनमें नहीं पहुँचे थे। सनातनजी वहीं वृन्दावनके वृक्षोंके नीचे अपना समय बिताने लगे। कुछ दिनोंके अनन्तर गौड़ देशसे श्रीरूपजी भी वृन्दावन पहुँच गये और दोनों भाई साथ ही श्रीकृष्णकथाकीर्तन करते हुए कालयापन करने लगे।

श्रीरघुनाथदासजीका गृहत्याग

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥*

(श्रीमद्भा० ५।५।१८)

सतग्रामके भूम्यधिकारी श्रीगोवर्धनदास मजूमदारके पुत्र श्रीरघुनाथदासजीको पाठक भूले न होंगे। शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यजीके घरपर ठहरे हुए प्रभुके उन्होंने दर्शन किये थे और प्रभुने उन्हें मर्कट-वैराग्य त्यागकर घरमें ही रहते हुए भगवत्-भजन करनेका उपदेश दिया था और उनके गृहत्यागके अत्यन्त आग्रह करनेपर प्रभुने कह दिया था—'अच्छा देखा जायगा। अब तो तुम घर चले जाओ, हम शीघ्र ही वृन्दावनको जायँगे, वहाँसे लौटकर जब हम आ जायँ, तब जैसा उचित हो वैसा करना।'

अब जब रघुनाथजीने सुना कि प्रभु ब्रजमण्डलकी यात्रा करके पुरी लौट आये हैं, तब तो वे चैतन्यचरणोंके दर्शनोंके लिये अत्यन्त ही लालायित हो उठे। उनका मनमधुप प्रभुके पादपद्मोंका मकरन्द पान करनेके निमित्त पागल-सा हो गया, वे गौराङ्गका चिन्तन करते हुए ही

---

* मृत्युके पाशसे बँधे हुए पुरुषको जो संसारबन्धनसे छुड़ानेमें समर्थ नहीं होता वह अक्षर पढ़ानेपर भी वास्तविक गुरु नहीं है, कुटुम्बमें उत्पन्न होनेपर भी स्वजन नहीं है, वीर्यसे उत्पन्न करनेवाला होनेपर भी सच्चा पिता नहीं है, शरीरको पैदा करनेवाली होनेपर भी वह वास्तविक माता नहीं है, माननीय होनेपर भी वह यथार्थ देव नहीं है और पाणिग्रहण करनेपर भी वह सच्चा पति नहीं है।

समयको व्यतीत करने लगे। ऊपरसे तो सभी संसारी कामोंको करते रहते, किन्तु भीतर उनके हृदयमें चैतन्यविरहजनित अग्नि जलती रहती। वे उसी समय सब कुछ छोड़-छाड़कर चैतन्यचरणोंका आश्रय ग्रहण कर लेते, किन्तु उस समय उनके परिवारमें एक विचित्र घटना हो गयी।

सप्तग्रामका ठेका पहले एक मुसलमान भूम्यधिकारीपर था। वही उस मण्डलका चौधरी था, उसपरसे ही इन्हें इस इलाकेका अधिकार प्राप्त हुआ था। वह प्रतिवर्ष आमदनीका चतुर्थांश अपने पास रखकर तीन अंश बादशाहके दरबारमें जमा करता था। उस मण्डलकी समस्त आमदनी बीस लाख रुपये सालानाकी थी। हिसाबसे इन मजूमदार भाइयोंको पन्द्रह लाख राजदरबारमें जमा करने चाहिये और पाँच लाख अपने पास रखने चाहिये, किन्तु ये अपने कायस्थपनेके बुद्धिकौशलसे बारह ही लाख जमा करते और आठ लाख स्वयं रख लेते। चिरकालसे ठेका इन्हींपर रहनेसे इन्हें भूम्यधिकारी होनेका स्थायी अधिकार प्राप्त हो जाना चाहिये था, क्योंकि बारह वर्षमें ठेका स्थायी हो जाता है, इस बातसे उस पुराने चौधरीको चिढ़ हुई। उसने राजदरबारमें अपना अधिकार दिखाते हुए इन दोनों भाइयोंपर अभियोग चलाया और राजमन्त्रीको अपनी ओर मिला लिया। इसीलिये इन्हें पकड़नेके लिये राजकर्मचारी आये। अपनी गिरफ्तारीका समाचार सुनकर हिरण्यदास और गोवर्धनदास— दोनों भाई घर छोड़कर भाग गये। घरपर अकेले रघुनाथदासजी ही रह गये, चौधरीने इन्हें ही गिरफ्तार करा लिया और कारावासमें भेज दिया। यहाँ इन्हें इस बातके लिये रोज डराया और धमकाया जाता था कि ये अपने ताऊ (पिताके बड़े भाई) और पिताका पता बता दें, किन्तु इन्हें उनका क्या पता था, इसलिये ये कुछ भी नहीं बता सकते थे। इससे क्रुद्ध होकर चौधरी इन्हें भाँति-भाँतिकी यातनाएँ देनेकी चेष्टा करता, बुद्धिमान् और प्रत्युत्पन्नमति रघुनाथदासजीने सोचा—'ऐसे काम नहीं चलेगा। किसी-न-

किसी प्रकार इस चौधरीको ही वशमें करना चाहिये।' ऐसा निश्चय करके वे मन-ही-मन उपाय सोचने लगे। एक दिन जब चौधरी इन्हें बहुत तंग करना चाहता था, तब इन्होंने स्वाभाविक स्नेह दर्शाते हुए अत्यन्त ही कोमल स्वरसे कहा—'चौधरीजी! आप मुझे क्यों तंग करते हैं? मेरे ताऊ, पिता और आप—तीनों भाई-भाई हैं। मैं अबतक तो आप तीनोंको भाई ही समझता हूँ। आप तीनों भाई आपसमें चाहे, लड़ें या प्रेमसे रहें मुझे बीचमें क्यों तंग करते हैं? आप तो आज लड़ रहे हैं कल फिर सभी भाई एक हो जायँगे। मैं तो जैसा उनका लड़का वैसा ही आपका लड़का। मैं तो आपको भी अपना बड़ा ताऊ ही समझता हूँ। आप कोई अनपढ़ तो हैं ही नहीं, सभी बातें जानते हैं। मेरे साथ ऐसा बर्ताव आपको शोभा नहीं देता।'

गुलाबके समान खिले हुए मुखसे स्नेह और सरलताके ऐसे शब्द सुनकर चौधरीका कठोर हृदय भी पसीज गया। उसने अपनी मोटी-मोटी भुजाओंसे रघुनाथदासजीको छातीसे लगाया और आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद कण्ठसे कहने लगा—'बेटा! सचमुच धनके लोभसे मैंने बड़ा पाप किया। तुम तो मेरे सगे पुत्रके समान हो, आजसे तुम मेरे पुत्र हुए। मैं अभी राजमन्त्रीसे कहकर तुम्हें छुड़वाये देता हूँ। तुम्हारे ताऊ और पिता जहाँ भी हों, उन्हें खबर कर देना कि अब डर करनेका कोई काम नहीं है। वे खुशीसे अपने घर आकर रहें।' यह कहकर उन्होंने राजमन्त्रीसे रघुनाथदासजीको मुक्त करा दिया। वे अपने घर आकर रहने लगे। अब तो उन्हें इस संसारका यथार्थ रूप मालूम पड़ गया। अबतक वे समझते थे कि इस संसारमें सम्भवतया थोड़ा-बहुत सुख भी हो, किन्तु इस घटनासे उन्हें पता चल गया कि संसार दुःख और कलहका घर है। कहीं तो दीनताके दुःखसे दुखी होकर लोग मर रहे हैं, कहीं कामपीड़ित हुए कामीजन कामिनियोंके पीछे कुत्तोंकी भाँति घूम रहे हैं। कहीं कोई

भाईसे लड़ रहा है, तो किसी जगह पिता-पुत्रसे कलह हो रहा है। कहीं किसीको दस-बीस गाँवोंकी जमींदारी मिल गयी है या कोई अच्छी राज-नौकरी या राजपदवी प्राप्त हो गयी है तो वह उसीके मदमें चूर हुआ लोगोंको तुच्छ समझ रहा है। किसीकी कविताकी कलाकोविदोंने प्रशंसा कर दी है, तो वह अपनेको ही उशना और वेदव्यास समझता है। कोई विद्याके मदमें, कोई धनके मदमें, कोई सम्पत्ति, अधिकार और प्रतिष्ठाके मदमें चूर हैं। किसीका पुत्र मूर्ख है तो वह उसीकी चिन्तामें सदा दुखी बना रहता है। इसके विपरीत किसीका सर्वगुणसम्पन्न पुत्र है, तो उसे थोड़ा भी रोग होनेसे पिताका हृदय धड़कने लग जाता है, यदि कहीं वह मर गया तो फिर प्राणान्तके ही समान दुःख होता है। ऐसे संसारमें सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, आनन्द तथा उल्लास कहाँ? यहाँ तो चारों ओर घोर विषण्णता, भयंकर दुःख और भाँति-भाँतिकी चिन्ताओंका साम्राज्य है। सच्चा सुख तो शरीरधारी श्रीगुरुके चरणोंमें ही है। उन्हींके चरणोंमें जाकर परमशान्ति प्राप्त हो सकती है। जो प्रतिष्ठा नहीं चाहते, नेतृत्व नहीं चाहते, मान, सम्मान, बड़ाई और गुरुपनेकी जिनकी कामना नहीं है, जो इस संसारमें नामी पुरुष बननेकी वासनाको एकदम छोड़ चुके हैं, उनके लिये गुरुचरणोंके अतिरिक्त कोई दूसरा सुखकर, शान्तिकर, आनन्दकर तथा शीतलता प्रदान करनेवाला स्थान नहीं है। इसलिये अब मैं संसारी भोगोंसे पूर्ण इस घरमें नहीं रहूँगा। अब मैं श्रीचैतन्यचरणोंका ही आश्रय ग्रहण करूँगा, उन्हींकी शान्तिदायिनी सुखमयी क्रोड़में बालककी भाँति क्रीड़ा करूँगा। उनके अरुण रंगवाले सुन्दर तलुओंको अपनी जिह्वासे चाटूँगा और उसी अमृतोपम माधुरीसे मेरी तृप्ति हो सकेगी। चैतन्यचरणाम्बुजोंकी पावन परागके सिवा सुखका कोई भी दूसरा साधन नहीं। यह सोचकर वे कई बार पुरीकी ओर भगे भी, किन्तु धनी पिताने अपने सुचतुर कर्मचारियोंद्वारा इन्हें फिरसे पकड़वा मँगवाया और

सदा इनकी देख-रेख रखनेके निमित्त दस-पाँच पहरेदार इनके ऊपर बिठा दिये। अब ये बन्दीकी तरह पहरोंके भीतर रहने लगे। लोगोंकी आँख बचाकर ये क्षणभरको भी कहीं अकेले नहीं जा सकते थे। इससे इनकी विरह-व्यथा और भी अधिक बढ़ गयी। ये 'हा गौर! हा प्राणवल्लभ!' कह-कहकर जोरोंसे रुदन करने लगते। कभी-कभी जोरोंसे रुदन करते हुए कहने लगते—'हे हृदयरमण! इस वेदनापूर्ण सागरसे कब उबारोगे? कब अपने चरणोंकी शरण दोगे? कब इस अधमको अपनाओगे? कब इसे अपने पास बुलाओगे? किस समय अपनी मधुमयी अमृतवाणीसे भक्ति-तत्त्वके सुधासिक्त वचनोंसे इस हृदयकी दहकती हुई ज्वालाको बुझाओगे। हे मेरे जीवनसर्वस्व! हे मेरी बिना डाँड़की नौकाके पतवार! मेरी जीर्ण-शीर्ण तरीके कैवर्तक प्रभो! मुझे इस अन्धकूपसे बाँह पकड़कर बाहर निकालो।' इनके ऐसे वे सिर-पैरके प्रलापको सुनकर प्रेममयी माताको इनके लिये अपार दुःख होने लगा। उन्होंने अपने पति, इनके पिता गोवर्धनदास मजूमदारसे कहा—'हमारे कुलका एकमात्र सहारा यह रघु पागल हो गया है। इसे बाँधकर रखिये, ऐसा न हो यह कहीं भाग जाय।'

पिताने मार्मिक स्वरमें आह भरते हुए कहा—'रघुको दूसरे प्रकारका पागलपन है। वह संसारी बन्धनको छिन्न-भिन्न करना चाहता है। रस्सीसे बाँधनेसे यह नहीं रुकनेका। जिसे कुबेरके समान अतुल सम्पत्ति, राजाके समान अपार सुख, अप्सराके समान सुन्दर स्त्री और भाग्यहीनोंको कभी प्राप्त न होनेवाला अतुलनीय ऐश्वर्य ही जब घरमें बाँधनेको समर्थ नहीं है, उसे बेचारी रस्सी कितने दिनों बाँधकर रख सकती है?' माता अपने पतिके उत्तरसे और पुत्रके पागलपनसे अत्यन्त ही दुखी हुई। पिता भलीभाँति रघुनाथपर दृष्टि रखने लगे।

उन्हीं दिनों श्रीपाद नित्यानन्दजी ग्रामोंमें घूम-घूमकर संकीर्तनकी धूम मचा रहे थे। वे चैतन्यप्रेममें पागल बने अपने सैकड़ों भक्तोंको

साथ लिये इधर-उधर घूम रहे थे। उनके उद्दण्ड नृत्यको देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते, चारों ओर उनके यश और कीर्तिकी धूम मच गयी। हजारों, लाखों मनुष्य नित्यानन्द प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगे। उन दिनों गौड़ देशमें 'निताई' के नामकी धूम थी। अच्छे-अच्छे सेठ-साहूकार और भूम्यधिपति इनके चरणोंमें आकर लोटते और ये उनके मस्तकोंपर निर्भय होकर अपना चरण रखते, वे कृतकृत्य होकर लौट जाते। लाखों रुपये भेंटमें आने लगे। नित्यानन्दजी खूब उदारता-पूर्वक उन्हें भक्तोंमें बाँटने लगे और सत्कर्मोंमें द्रव्यको व्यय करने लगे। पानीहाटी संकीर्तनका प्रधान केन्द्र बना हुआ था। वहाँके राघव पण्डित महाप्रभु तथा नित्यानन्दजीके अनन्य भक्त थे। नित्यानन्दजी उन्हींके यहाँ अधिक ठहरते थे। रघुनाथजीने जब नित्यानन्दजीका समाचार सुना तो वे पिताकी अनुमति लेकर बीसों सेवकोंके साथ पानीहाटीमें उनके दर्शनोंके लिये चल पड़े। उन्होंने दूरसे ही गङ्गाजीके किनारे बहुत-से भक्तोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रके समान देदीप्यमान उच्चासनपर बैठे हुए नित्यानन्दजीको देखा। उन्हें देखते ही इन्होंने भूमिपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। किसी भक्तने कहा—'श्रीपाद! हिरण्य मजूमदारके कुँवर शाह रघुनाथदासजी आये हैं, वे प्रणाम कर रहे हैं।' खिलखिलाते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'अहा! रघु आया है? आज यह चोर जेलमेंसे कैसे निकल भागा? इसे यहाँ आनेकी आज्ञा कैसे मिल गयी? (फिर रघुनाथदासजीकी ओर देखकर कहने लगे) रघु! आ, यहाँ आकर मेरे पास बैठ।'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही विनीत भावसे डरते-से सिकुड़े हुए रघुनाथदासजी सभी भक्तोंके पीछे जूतियोंमें बैठ गये। नित्यानन्दजीने अब रघुनाथदासजीपर अपनी कृपा की। महापुरुष धनिकोंको यदि किसी कामके करनेकी आज्ञा दें, तो उसे उनकी परम कृपा ही समझनी

चाहिये। क्योंकि धन अनित्य पदार्थ है और फिर वह एकके पास सदा स्थायी भी नहीं रहता। महापुरुष ऐसी अस्थिर वस्तुको अपनी अमोघ आज्ञा प्रदानकर स्थिर और सार्थक बना देते हैं। धनका सर्वश्रेष्ठ उपयोग ही यह है कि उसका व्यय महापुरुषोंकी इच्छासे हो, किन्तु ऐसा सुयोग सभीके भाग्यमें नहीं होता। किसी भाग्यशालीको ही ऐसा अमूल्य और दुर्लभ अवसर प्राप्त हो सकता है। नित्यानन्दजीके कहनेसे रघुनाथदास-जीने दो-चार हजार रुपये ही खर्च किये होंगे, किन्तु इतने ही खर्चसे उनका वह काम अमर हो गया और आज भी प्रतिवर्ष पानीहाटीमें 'चूराउत्सव' उनके इस कामकी स्मृति दिला रहा है। लाखों मनुष्य उन दिनों रघुनाथदासजीके चिउरोंका स्मरण करके उनकी उदारता और त्यागवृत्तिको स्मरण करके गद्गद कण्ठसे अश्रु बहाते हुए प्रेममें विभोर होकर नृत्य करते हैं। महामहिम रघुनाथदासजी सौभाग्यशाली थे, तभी तो नित्यानन्दजीने कहा—'रघु! आज तो तुम बुरे फँसे; अब यहाँसे सहजमें ही नहीं निकल सकते। मेरे सभी साथी भक्तोंको आज दही-चिउरा खिलाना होगा।' बङ्गाल तथा बिहारमें चिउराको सर्वश्रेष्ठ भोजन समझते हैं। पता नहीं, वहाँके लोगोंको उनमें क्या स्वाद आता है! चिउरा कच्चे धानोंको कूटकर बनाये जाते हैं और उन्हें दहीमें भिगोकर खाते हैं। बहुत-से लोग दूधमें भी चिउरा खाते हैं। दही-चिउरा ही सर्वश्रेष्ठ भोजन है। इसके दो भेद हैं—'दही-चिउरा' और 'चिउरा-दही'। जिसमें चिउरोंके साथ यथेष्ट दही-चीनी दी जाय उसे तो 'दही-चिउरा' कहते हैं और जहाँ दही-चीनीका सङ्कोच हो और चिउरा अधिक होनेके कारण पानीमें भिगोकर दही-चीनीमें मिलाये जायँ, वहाँ उन्हें 'चिउरा-दही' कहते हैं। बहुत-से लोग तो पहले चिउरोंको दूधमें भिगो लेते हैं, फिर उन्हें दही-चीनीसे खाते हैं। अजीब स्वाद है। भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके भिन्न-भिन्न पदार्थोंके साथ स्वाद भी भिन्न-भिन्न हैं। एक बात और। चिउरोंमें छूत-छात नहीं। जो ब्राह्मण

किसीके हाथकी बनी पूड़ी तो क्या फलाहारी मिठाईतक नहीं खाते वे भी 'दही-चिउरा' अथवा 'चिउरा-दही' को मजेमें खा लेते हैं।

नित्यानन्दजीकी आज्ञा पाते ही रघुनाथदासजीने फौरन आदमियों-को इधर-उधर भेजा। बोरियोंमें भरकर मनों बढ़िया चिउरा आने लगे। इधर-उधरसे दूध-दहीके सैकड़ों घड़ोंको सिरपर रखे हुए सेवक आ पहुँचे। जो भी सुनता वही चिउराउत्सव देखनेके लिये दौड़ा आता। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें वहाँ एक बड़ा भारी मेला-सा लग गया। चारों ओर मनुष्योंके सिर-ही-सिर दीखते थे। सामने सैकड़ों घड़ोंमें दूध-दही भरा हुआ रखा था। हजारों बड़े-बड़े मिट्टीके कुल्हड़ दही-चिउरा खानेके लिये रखे थे। दूध और दहीके अलग-अलग चिउरा भिगोये गये। दहीमें कर्पूर, केसर आदि सुगन्धित द्रव्य मिलाये गये; केला, सन्देश, नारिकेल आदि भी बहुत-से मँगाये गये। जो भी वहाँ आया सभीको दो-दो कुल्हड़ दिये गये। नित्यानन्दने महाप्रभुका आह्वान किया। नित्यानन्दजीको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्रत्यक्ष श्रीचैतन्य चिउराउत्सव देखनेके लिये आये हैं। उन्होंने उनके लिये अलग पात्रोंमें चिउरा परोसे और 'हरि-हरि' ध्वनिके साथ सभीको प्रसाद पानेकी आज्ञा दी। पचासों आदमी परोस रहे थे। जिसे जहाँ जगह मिली, वह वहीं बैठकर प्रसाद पाने लगा, सभीको उस दिनके चिउरोंमें एक प्रकारके दिव्य स्वादका अनुभव हुआ, सभीने खूब तृप्त होकर प्रसाद पाया। शामतक जो भी आता रहा, उसे ही प्रसाद देते रहे। रघुनाथदासजीको नित्यानन्दजीका उच्छिष्ट प्रसाद मिला। उस दिन राघव पण्डितके यहाँ नित्यानन्दजीका भोजन बना था। उसे सभी भक्तोंने मिलकर शामको पाया। रघुनाथदास उस दिन वहीं राघव पण्डितके घर रहे।

दूसरे दिन उन्होंने नित्यानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे आज्ञा माँगी। नित्यानन्दजीने 'चैतन्यचरणप्राप्ति' का आशीर्वाद दिया। इस आशीर्वादको पाकर रघुनाथदासजीको परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने राघव पण्डितको बुलाया और भक्तोंको कुछ भेंट करनेकी इच्छा प्रकट

की। राघव पण्डितने उन्हें सहर्ष सम्मति दे दी। तब रघुनाथदासजीने नित्यानन्दजीके भण्डारीको बुलाकर सौ रुपये और सात तोला सोना नित्यानन्दजीके लिये दे दिया और उससे कह दिया कि हम चले जायँ, तब प्रभुपर यह बात प्रकट हो। फिर सभी भक्तोंको बुलाकर यथायोग्य उन्हें दस, पाँच, बीस या पचास रुपये भेंट दे देकर सभीकी चरण-वन्दना की। चलते समय राघव पण्डितको भी वे सौ रुपये और दो तोला सोना दे गये। इस प्रकार सभीकी यथायोग्य पूजा करके रघुनाथदासजी अपने घर लौट आये।

वे शरीरसे तो लौट आये, किन्तु उनका मन नीलाचलमें प्रभुके पास पहुँच गया। अब उन्हें नीलाचलके सिवा कुछ सूझता ही नहीं था। जब उन्होंने सुना कि गौड़ देशके सैकड़ों भक्त सदाकी भाँति रथयात्राके उपलक्ष्यसे श्रीचैतन्यचरणोंमें चार महीने निवास करनेके निमित्त नीलाचल जा रहे हैं, तब तो उनकी उत्सुकता परिधिको पार कर गयी, किन्तु वे सबके साथ प्रकटरूपसे नीलाचल जा ही कैसे सकते थे ? इसलिये वे किसी दिन एकान्तमें छिपकर घरसे भागनेका उद्योग करने लगे।

समय आनेपर प्रारब्ध सभी सुयोगोंको स्वयं ही लाकर उपस्थित कर देता है। एक दिन अरुणोदयके समय रघुनाथजीके गुरु तथा आचार्य यदुनन्दनजी उनके पास आये। उन्हें देखते ही रघुनाथदासजीने उन्हें भक्तिभावसे प्रणाम किया। आचार्यने स्नेहके साथ इनके कन्धेपर हाथ रखकर कहा—'भैया रघु, तुम उस पुजारीको क्यों नहीं समझाते ? वह चार-पाँच दिनसे हमारे यहाँ पूजा करने आया ही नहीं। यदि वह नहीं कर सकता तो किसी दूसरे ही आदमीको नियुक्त कर दो।'

धीरे-धीरे रघुनाथदासजीने कहा—'नहीं, मैं उसे समझा दूँगा।' यह कहकर वे धीरे-धीरे आचार्यके साथ चलने लगे। उनके साथ-ही-साथ वे बड़े फाटकसे बाहर आ गये। प्रातःकाल समझकर रात्रिके लगे हुए पहरेदार सो गये थे। रघुनाथदासजीको बाहर जाते हुए किसीने नहीं

देखा। जब वे बातें करते-करते यदुनन्दनाचार्यजीके घरके समीप पहुँच गये तब उन्होंने धीरेसे कहा—'अच्छा, तो मैं अब जाऊँ ?'

कुछ सम्भ्रमके साथ आचार्यने कहा—'हाँ, हाँ, तुम जाओ। लो, मुझे पता भी नहीं, तुम बातों-ही-बातोंमें यहाँतक चले आये ! तुम अब जाकर जो करने योग्य कार्य हों, उन्हें करो।' बस, इसे ही ये गुरु-आज्ञा समझकर और अपने आचार्य महाराजकी चरणवन्दना करके रास्तेको बचाते हुए एक जङ्गलकी ओर हो लिये।

जो शरीरपर पहने थे, वही एक वस्त्र था। पासमें न पानी पीनेको पात्र था और न मार्गव्ययके लिये एक पैसा। बस, चैतन्यचरणोंका आश्रय ही उनका पावन पाथेय था। उसे ही कल्पतरु समझकर वे निश्चिन्त भावसे पगडण्डीके रास्तेसे चल पड़े। धूप-छाँहकी कुछ भी परवा न करते हुए वे बिना खाये-पीये 'गौर-गौर' कहकर रुदन करते हुए जा रहे थे। जो घरके पासके बगीचेमें भी पालकीसे ही जाते थे, जिन्होंने कभी कोसभरका भी मार्ग पैदल तय नहीं किया था, वे ही गोवर्धनदास मजूमदारके इकलौते लाड़िले लड़ैते लड़के कुँवर रघुनाथदास आज पन्द्रह कोस—३० मील—शामतक चले और शामको एक ग्वालेके घेरमें पड़ रहे। भूख-प्यासका इन्हें ध्यान नहीं था। ग्वालेने थोड़ा-सा दूध लाकर इन्हें दे दिया, उसे ही पीकर ये सो गये और प्रातःकाल बहुत ही सवेरे फिर चल पड़े। वे सोचते थे, यदि पुरी जानेवाले वैष्णवोंने भी हमें देख लिया तो फिर हम पकड़े जायँगे। इसीलिये वे गाँवोंमें न होकर पगडण्डीके रास्तेसे जा रहे थे।

इधर प्रातःकाल होते ही रघुनाथदासकी खोज होने लगी। रघुनाथ यहाँ, रघुनाथ वहाँ, यही आवाज चारों ओर सुनायी देने लगी। किन्तु रघुनाथ यहाँ-वहाँ कहाँ ? वह तो जहाँका था वहाँ ही पहुँच गया। अब झींखते रहो। माता छटपटाने लगी, स्त्री सिर पीटने लगी, पिता आँखें मलने लगे, ताऊ बेहोश होकर भूमिपर गिर पड़े। उसी समय गोवर्धन-

दास मजूमदारने पाँच घुड़सवारोंको बुलाकर उनके हाथों शिवानन्द सेनके पास एक पत्री पठायी कि 'रघु घरसे भागकर तुम्हारे साथ पुरी जा रहा है। उसे फौरन इन लोगोंके साथ लौटा दो।' घुड़सवार पत्री लेकर पुरी जानेवाले वैष्णवोंके पास रास्तेमें पहुँचे। पत्र पढ़कर सेन महाशयने उत्तर लिख दिया—'रघुनाथदासजी हमारे साथ नहीं आये हैं, न हमने उनका साक्षात्कार ही हुआ। यदि वे हमें पुरी मिलेंगे तो हम आपको सूचित करेंगे।' उत्तर लेकर नौकर लौट आये। पत्रको पढ़कर रघुनाथदासजीके सभी परिवारके प्राणी शोकसागरमें निमग्न हो गये।

इधर रघुनाथदासजी मार्गकी कठिनाइयोंकी कुछ भी परवा न करते हुए, भूख-प्यास और सर्दी-गर्मीसे उदासीन होते हुए पचीस-तीस दिनके मार्गको केवल बारह दिनमें ही तय करके प्रभुसेवित श्रीनीलाचल-पुरीमें जा पहुँचे। उस समय महाप्रभु श्रीस्वरूपादि भक्तोंके सहित बैठे हुए कृष्णकथा कर रहे थे। उसी समय दूरसे ही भूमिपर लेटकर रघुनाथदासजीने प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। सभी भक्त सम्भ्रमके सहित उनकी ओर देखने लगे। किसीने उन्हें पहचाना ही नहीं। रास्तेकी थकान और सर्दी-गर्मीके कारण उनका चेहरा एकदम बदल गया था। मुकुन्दने पहचानकर जल्दीसे कहा—'प्रभो! रघुनाथदासजी हैं।' प्रभुने अत्यन्त ही उल्लासके साथ कहा—'हाँ, रघु आ गया! बड़े आनन्दकी बात है।' यह कहकर प्रभुने उठकर रघुनाथदासजीका आलिङ्गन किया। प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाते ही रघुनाथदासजीकी सभी रास्तेकी थकान एकदम मिट गयी। वे प्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे, प्रभु अपने कोमल करोंसे उनके अश्रु पोंछते हुए धीरे-धीरे उनके सिरपर हाथ फेरने लगे। प्रभुके सुखद स्पर्शसे सन्तुष्ट होकर रघुनाथदासजीने उपस्थित सभी भक्तोंके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और सभीने उनका आलिङ्गन किया।

रघुनाथदासजीके उतरे हुए चेहरेको देखकर प्रभुने स्वरूप दामोदरजीसे कहा—'स्वरूप! देखते हो न, रघुनाथ कितने कष्टसे यहाँ आया है।

इसे पैदल चलनेका अभ्यास नहीं है। बेचारेको क्या काम पड़ा होगा? इनके पिता और ताऊको तो तुम जानते ही हो। चक्रवर्तीजी (प्रभुके पूर्वाश्रमके नाना श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती) के साथ उन दोनोंका भ्रातृभावका व्यवहार था, इसी सम्बन्धसे ये दोनों भी हमें अपना धेवता करके ही मानते हैं। घोर संसारी हैं। वैसे साधु-वैष्णवोंकी श्रद्धाके साथ सेवा भी करते हैं, किन्तु उनके लिये धन-सम्पत्ति ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। वे परमार्थसे बहुत दूर हैं। रघुनाथके ऊपर भगवान्‌ने परम कृपा की, जो इसे उस अन्धकूपसे निकालकर यहाँ ले आये।'

रघुनाथदासजीने धीरे-धीरे कहा—'मैं तो इसे श्रीचरणोंकी ही कृपा समझता हूँ, मेरे लिये तो ये ही युगलचरण सर्वस्व हैं।'

महाप्रभुने स्नेहके स्वरमें स्वरूप गोस्वामीसे कहा—'रघुनाथको आजसे मैं तुम्हें ही सौंपता हूँ। तुम्हीं आजसे इसके पिता, माता, भाई, गुरु और सखा सब कुछ हो। आजसे मैं इसे 'स्वरूपका रघु' कहा करूँगा।' यह कहकर प्रभुने रघुनाथदासजीका हाथ पकड़कर स्वरूप गोस्वामीके हाथमें दे दिया। रघुनाथदासजीने फिरसे स्वरूप दामोदरजीके चरणोंमें प्रणाम किया और स्वरूप गोस्वामीने भी उन्हें आलिंगन किया।

उसी समय गोविन्दने धीरेसे रघुनाथको बुलाकर कहा—'रास्तेमें न जाने कहाँपर कब खानेको मिला होगा, थोड़ा प्रसाद पा लो।' रघुनाथजीने कहा; 'समुद्रस्नान और श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके अनन्तर प्रसाद पाऊँगा।' यह कहकर वे समुद्रस्नान करने चले गये और वहींसे श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते हुए प्रभुके वासस्थानपर लौट आये।

महाप्रभुके भिक्षा कर लेनेपर गोविन्दने प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद रघुनाथदासजीको दिया। प्रभुका प्रसादी महाप्रसाद पाकर रघुनाथजी वहीं निवास करने लगे। गोविन्द उन्हें नित्य महाप्रसाद दे देता था और ये उसे भक्तिभावसे पा लेते थे। इस प्रकार ये घर छोड़कर विरक्त-जीवन बिताने लगे।

श्रीरघुनाथदासजीका उत्कट वैराग्य

> यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।
> यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥
> आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः ।
> किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ॥*
>
> (श्रीमद्भा० ७ । १५ । ३६, ४०)

वैराग्य ही है भूषण जिनका ऐसे श्रीरघुनाथदासजी पुरीमें आकर प्रभुके चरणोंके समीप रहने लगे । पाँच दिनोंतक तो वे गोविन्दसे

---

* जो त्रिवर्गके क्षेत्ररूप गृहसे प्रथम विरक्त होकर पुनः उन त्रिवर्गोंका ही सेवन करता है वह निर्लज्ज मानो वमन किये हुए अन्नको फिरसे खाता है ।

यदि ज्ञानद्वारा वासनाओंको नष्ट करके अपनेको परब्रह्मरूप जान लिया तो लम्पट पुरुष फिर किस कारण और किस इच्छासे इस नाशवान् देहको माल खिला-खिलाकर मोटा बनाता है ।

महाप्रसाद लेकर पाते रहे। पीछे उन्होंने सोचा—'महाप्रसादको इस प्रकार रोज यहाँसे खाना ठीक नहीं है। यहाँ प्रभुके समीप और भी तो विरक्त वैष्णव हैं, वे सभी अपनी-अपनी भिक्षा लाते हैं, मुझे भी अपनी भिक्षा स्वयं लानी चाहिये। विरागी होकर यदि भिक्षा माँगनेमें सङ्कोच हुआ, तो मेरे ऐसे वैराग्यको धिक्कार है!' यह सोचकर उन्होंने प्रभुके यहाँसे महाप्रसाद लेना बन्द कर दिया।

रात्रिमें जगन्नाथजीकी पुष्पाञ्जलिके अनन्तर भगवान्‌को शयन कराकर सेवकगण अपने-अपने घरोंको चले जाते हैं। उस समय सिंह-द्वारपर बहुत-से अनाथी दरिद्र भिक्षुक अपना पल्ला फैलाये खड़े रहते हैं। सेवक मन्दिरसे निकलकर कुछ थोड़ा-बहुत बचा हुआ प्रसाद उन्हें बाँट देते हैं। बहुत-से यात्री भी प्रसाद मोल मँगाकर थोड़ा-थोड़ा उन भिक्षुकोंको बँटवा देते हैं, कोई पैसा-धेला दे भी देता है। उस समयका वहाँका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक होता है। सभी भिक्षुक चाहते हैं कि सबसे पहले हमें ही प्रसाद मिल जाय, क्योंकि प्रसाद चुक जानेपर जिन्हें नहीं मिलता, उनके लिये बाँटनेवाले फिर थोड़े ही लाते हैं, इसी-लिये बाँटनेवालेको चारों ओरसे घेर लेते हैं। जिसे मिल गया उसे मिल गया, जो रह गया सो रह गया, किन्तु वहाँ थोड़ा-बहुत प्रायः सभीको मिल जाता है। रघुनाथदासजी भी उन्हीं भिक्षुकोंमें अपनी फटी गुदड़ी ओढ़कर खड़े हो जाते थे। बिना माँगे किसीने सबोंके साथमें दे दिया तो ले लिया, किसी दिन चुक गया तो वैसे ही चले आये, ये बाँटनेवाले-पर अन्य भिक्षुकोंकी भाँति टूटे नहीं पड़ते थे।

महाप्रभुने जब दो-एक दिन रघुनाथदासजीको महाप्रसाद पाते नहीं देखा तब उन्होंने गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! रघु प्रसाद नहीं पाता। वह खाता कहाँसे है?'

गोविन्दने कहा—'प्रभो वे अब सिंहद्वारपर अन्य भिक्षुकोंके साथ खड़े होकर भिक्षा माँगते हैं।'

प्रभु इस बातको सुनकर बड़े ही सन्तुष्ट हुए और हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते हुए गोविन्दसे कहने लगे—'गोविन्द! सचमुच रघु रत्न है, उसे सच्चा वैराग्य है। वैराग्य होनेपर मान, प्रतिष्ठा, इन्द्रियस्वाद और लोकलज्जाकी परवा ही नहीं रहती। त्यागी होकर जो परमुखापेक्षी बना रहता है, वह तो कूकरके समान है। त्यागीको अपनी वृत्ति सदा स्वतन्त्र रखनी चाहिये। भिक्षा माँगकर खाना ही उसके लिये परम भूषण है, और दूसरोंके अन्नकी इच्छा रखना ही भारी दूषण है। जो त्यागी होकर अपनी जिह्वाको वशमें नहीं कर सकता, घर छोड़नेपर जिसे भिक्षाका सङ्कोच है, वह तो इन्द्रियोंका गुलाम है। परमार्थका पथ उससे बहुत दूर है। वैरागीको निरन्तर नाम-जप करते रहना चाहिये। उदरपर जो भी रूखा-सूखा भिक्षामें प्राप्त हो जाय उसीपर निर्वाह करके केवल कृष्ण-कथा-कीर्तनके निमित्त इस शरीरको धारण किये रहना चाहिये। रघुने यह बहुत सुन्दर काम किया।'

इतने त्यागसे रघुनाथजीको कुछ-कुछ शान्तिका अनुभव होने लगा। हजारों आदमी जिनके आश्रयसे खाते थे, आजसे पन्द्रह दिन पूर्व जो हजारों आदमियोंके स्वामी बने हुए थे, सेवक जिनके समीप सदा हाथोंकी अञ्जलियाँ बाँधे खड़े रहते थे वे ही मजूमदारके प्यारे पुत्र रघु एक मुट्ठी सिद्ध अन्नके लिये घण्टों सिंहद्वारपर खड़े हुए बाँटनेवालेकी प्रतीक्षा करते रहते हैं और कभी-कभी तो वैसे-के-वैसे ही चले आते हैं। अपने आसनपर जाकर जल पीकर ही बिना कुछ खाये सो जाते हैं, कभी चावल न मिलनेपर कोई दयालु पुरुष पैसे-धेलेका चना दिलवा देता है उन्हें ही चबाकर पड़ रहते हैं। बढ़िया-बढ़िया व्यञ्जनोंके थालोंको आजसे पन्द्रह

दिन पहले सेवक इस भयसे डरते-डरते लाते थे कि कहीं किसीमें अधिक नमक तो न पड़ गया हो, कोई पदार्थ अधिक गीला तो न रह गया हो। वे ही रघु आज सूखे चनोंको जलके साथ गलेके नीचे उतारते हैं। वाह रे वैराग्य! धन्य है तेरी शक्तिको, जो महान् विलासीको भी परम तितिक्षावान् बना देती है!

रघुनाथदासजीने एक दिन विनम्र भावसे स्वरूप गोस्वामीसे निवेदन किया—'प्रभुने मुझे घर-बार छुड़ाकर किस निमित्त यहाँ बुलाया है, इसे जाननेकी मेरी बड़ी अभिलाषा है। मुझे क्या करना चाहिये। मैं अपना कर्तव्य जानना चाहता हूँ।' रघुनाथजी बड़े ही संकोची थे, वे प्रभुके सामने कभी भी अपने मुँहसे कोई बात नहीं निकालते थे। उनकी ओर कभी आँखें उठाकर देखते नहीं थे, जो कुछ कहलाना होता, उसे या तो स्वरूप गोस्वामीद्वारा कहलाते या गोविन्दके द्वारा। स्वयं वे सम्मुख होकर कोई बात नहीं पूछते थे।

एक दिन महाप्रभु स्वरूप गोस्वामीके साथ कथावार्ता कर रहे थे, उसी समय रघुनाथदासजीने आकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर स्वरूप गोस्वामीकी वन्दना करके चुपचाप पीछेको एक ओर बैठ गये।

प्रभुने हँसते हुए कहा—'तुम्हारा यह रघु तो बड़ा ही संकोची है, हमसे बोलता ही नहीं। हमें पता भी नहीं क्या करता रहता है। तुमसे तो सब बातें कहता होगा, तुम्हीं इसकी बातें बताओ!' एक घुटनेको खड़ा करके उससे अपने दायें कपोलको सटाकर नीची दृष्टि किये हुए रघुनाथजी चुपचाप बैठे थे। अपने ही सम्बन्धका प्रसंग छिड़नेपर वे और भी अधिक संकुचित-से बन गये। संकोचके कारण वे अपने अंगोंमें समा जाना चाहते थे। स्वरूप गोस्वामीने धीरे-धीरे कहा—'रघु बड़ा पुरुषार्थ करता है। आपसे बातें कहनेमें इसे संकोच होता है। कल मुझसे

कहता था (फिर रघुनाथदासजीकी ओर देखकर उन्हींसे कहने लगे) हाँ भाई, तुम जो मुझसे कल प्रभुसे कहनेके लिये कहते थे, उसे अब तुम्हीं प्रभुसे पूछो।'

प्रभुने पुचकारते हुए कहा—'हाँ भाई, कहो क्या बात पूछना चाहते थे?'

रघुनाथजी कुछ विवशताके भावसे सिरको थोड़ा और नीचा करके चुपचाप ही बैठे रहे, उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। तब प्रभुने स्वरूप गोस्वामीसे कहा—'अच्छा, तुम्हीं बताओ क्या पूछना चाहता था?'

स्वरूपजीने कुछ रुक-रुककर कहा—'कहता था कि मेरा घर-बार क्यों छुड़ाया है? मेरा कर्तव्य क्या है? मुझे क्या करना चाहिये—इन बातोंको प्रभुसे पूछो।'

यह सुनकर प्रभु हँसने लगे और रघुनाथजीको लक्ष्य करके कहने लगे—'तुम्हारे गुरु तो ये ही स्वरूपजी हैं। मैंने तुम्हें इन्हींको सौंप दिया है। साध्यसाधनतत्त्व तो ये मुझसे भी अधिक जानते हैं। मुझे भी कोई बात पूछनी होती है, तो इन्हींसे पूछता हूँ।' इतना कहकर प्रभु चुप हो गये और फिर अपने-आप ही कहने लगे—यदि तुम्हारी इच्छा ऐसी ही है कि मैं ही तुमसे कुछ कहूँ तो मैंने तो सभी शास्त्रोंका सार यही समझा है कि श्रीकृष्ण-कीर्तन और नाम-स्मरण ही संसारमें सुखका सर्वश्रेष्ठ साधन है। प्रेमकी उपलब्धि नाम-स्मरणसे ही हो सकती है। अब नाम-स्मरण कैसा बनके करना चाहिये, बस यही समझनेकी बात है।

जिसे प्रेमकी प्राप्ति करनी हो उसे सबसे पहले साधु-संग करना चाहिये। भजन, कीर्तन, सत्संग, भगवत्-लीलाओंका स्मरण यही मुख्य धर्म है, इन धर्मोंका पालन करना चाहिये। संसारी लोगोंसे विशेष सम्बन्ध रखना, संसारी लोगोंसे इधर-उधरकी बहुत-सी बातें करना,

दूसरोंकी निन्दा-स्तुति करना, इसीको ऋषियोंने लोकधर्म बताया है। इन बातोंसे सदा बचे रहना चाहिये। दूसरोंके गुण-दोषोंका कथन एकदम परित्याग कर देना चाहिये। यदि कुछ कहना ही हो तो दूसरोंके गुणोंको ही कहना चाहिये। दूसरोंके अवगुणोंपर तो ध्यान ही न देना चाहिये। चाहे कोई कितना भी बड़ा ज्ञानी, ध्यानी, मानी और पण्डित क्यों न हो, जहाँ उसने दूसरोंके निन्दाके वाक्य मुखसे निकाले वहीं उसे पतित हुआ समझना चाहिये। दूसरोंके यथार्थ गुणोंकी स्तुतिके अनन्तर जहाँ यह वाक्य निकला कि 'अजी, और तो सब ठीक है; बस, उनमें यही एक दोष है' वहाँ ही यह दोष उस मनुष्यके हृदयमें प्रवेश कर जाता है। क्योंकि दोषोंके परमाणु अति सूक्ष्म होते हैं, जबतक वे हृदयमें प्रवेश नहीं करते, तबतक दूसरोंकी निन्दा हो नहीं सकती। निन्दा करनेमें हम तभी समर्थ हो सकेंगे, जब दोषोंके परमाणु हमारे हृदयमें आ जायँगे। ज्यों-ज्यों दूसरोंकी निन्दा करोगे, त्यों-ही-त्यों वे परमाणु बढ़ने लगेंगे और वे तुम्हारे हृदयकी पवित्रता, सरलता, सच्चरित्रता और ज्ञानार्जनकी इच्छा आदि सद् वृत्तियोंको दबाकर वहाँ अज्ञान और मोहका साम्राज्य स्थापित कर देंगे। इसलिये 'अदोषदर्शी' होना यह वैष्णवोंके लिये सबसे मुख्य काम है। जो भगवद्भक्त महात्मा हैं, भागवत और साधु पुरुष हैं, उनकी निरन्तर सेवा करते रहना चाहिये। मान-प्रतिष्ठा और विषय-भोगोंकी इच्छा—इन सभीको कामतृष्णा कहते हैं। विरक्त पुरुषोंको इनसे सदा बचे रहना चाहिये। इस प्रकार सबसे विरक्त होकर निरन्तर भगवन्नामोंका जप, भगवल्लीलाओंका श्रवण और भगवत्-गुणोंका कीर्तन—ये ही सभी परमार्थके पथिकोंके लिये कर्तव्य कर्म हैं। इन कर्मोंके करनेवालेको कभी संसारमोह नहीं होता। मैं संक्षेपमें तुझे वैष्णवोंके मुख्य-मुख्य कर्म बताता हूँ।

(१) ग्राम्यकथा कभी श्रवण नहीं करनी चाहिये, ग्राम्यकथा सुननेसे चित्तमें वे ही बातें स्मरण होती हैं जिससे भजनमें चित्त नहीं लगता।

(२) ग्राम्यकथा कहनी भी न चाहिये । वि ाँकी बातें करनेसे चित्त विषयमय बन जाता है ।

(३) अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ न खाने योंकि ऐसे पदार्थोंसे विषयलोलुपता बढ़ती है ।

(४) अच्छे, चमकीले और बहुत स्वच्छ वस्त्र ने चाहिये क्योंकि उनके पहननेसे जीवनमें बनावट आती है औ टसे वृत्ति बहिर्मुखी बन जाती है ।

(५) सदा अभिमानरहित होकर बर्ताव करना । हृदयमें अभिमान आते ही सभी साधन नष्ट हो जाते हैं ।

(६) दूसरोंको सदा मान देते रहना चाहिये, दू मान देने से आत्माका सम्मान होता है और आत्मसम्मान ही स .ष्ठ सम्मान है । इसके सामने सभी सम्मान तुच्छातितुच्छ हैं ।

(७) सदा, सर्वत्र और सब अवस्थाओंमें भगवन्नामोंका जप करते रहना चाहिये । नामजपसे श्रीकृष्णचरणोंमें प्रीति उत्पन्न होती है ।

(८) शुद्ध और श्रेष्ठ भावसे श्रीभगवान्‌की पूजा करते रहना चाहिये । मानसिक पूजा ही सर्वश्रेष्ठ पूजा है ।

इस प्रकार इन धर्मोंके पालन करनेवाले वैष्णवको ही प्रभुप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है ।

महाप्रभुके उपदेशामृतको पान करके रघुनाथदासजीकी साध्य-साधनतत्त्वजिज्ञासारूपी पिपासा भलीभाँति शान्त हो गयी । उस दिनसे वे अहर्निश नामसंकीर्तन ही करते रहते । दिन-रात्रिके आठ पहरोंमेंसे वे साढ़े सात पहर भगवन्नामोंका जप करते रहते और आधा पहर भोजन तथा शयनमें बिताते ।

उसी समय पीछे आनेवाले गौड़ीय भक्त भी पुरी आ गये। और सदाकी भाँति चार महीने रहकर देशको लौट गये। गोवर्धनदासजी मजूमदारने जब भक्तोंके पुरीसे लौटनेका समाचार सुना तो उन्होंने उसी समय अपना आदमी शिवानन्दजीके पास भेजकर रघुनाथदासजीका पता लगवाया। सेन महाशयके यहाँ पहुँचकर आदमीने उन्हें प्रणाम करके पूछा—'मेरे स्वामीने आपसे पुछवाया है कि मेरा लड़का रघुनाथदास यहाँसे पुरी भाग गया है, वह आपको पुरीमें तो नहीं मिला?'

सेन महाशयने कहा—'पुरीमें सभी विरक्त वैष्णवोंसे अधिक रघुनाथदास तितिक्षु हैं। उनका नाम वहाँ सभी जानते हैं। वे सिंहद्वारपर भिक्षा जो मिल जाता है, उसे ही खाकर अहर्निश श्रीकृष्णकीर्तन करते रहते हैं। वे सकुशल प्रभुके पादपद्मोंके समीप निवास कर रहे हैं।'

सेवकने सभी वृत्तान्त सप्तग्राममें जाकर अपने स्वामीसे कह दिया—'मेरा इकलौता पुत्र एक मुट्ठी चावलोंके लिये मन्दिरके द्वारपर खड़ा रहता है।' इस समाचारको सुनते ही धन-सम्पत्तिको ही सब कुछ समझनेवाला पिता शोकसे 'हाय, हाय' करने लगा। माता अश्रुओंसे पृथ्वीको भिगोने लगी। अन्तमें पिताने अपने पुत्रके लिये ४००) देकर एक सेवक और रसोइया शिवानन्दजी सेनके पास भेजा। सेन महाशयने कहा—'अभी जाड़ेके दिन हैं, तुमलोग कहाँ जाओगे? चार-पाँच महीने ठहरो, जब हम चलेंगे तभी चलना।' सेवक इस उत्तरको सुनकर लौट आये और जब सेन महाशय दूसरी बार वर्षाके आरम्भमें चलने लगे, तब रुपये लेकर वे सेवक भी उनके साथ चले। पुरीमें पहुँचकर सेवकोंने रघुनाथदासजीको उनके पिताका सभी समाचार सुनाया और जो द्रव्य वे साथ लाये थे, उसे भी उन्हें देना चाहा, किन्तु उन्होंने द्रव्य लेना स्वीकार नहीं किया। रघुनाथदासजीके अस्वीकार करनेपर भी सेवक द्रव्य लेकर वहीं रहने लगे।

रघुनाथदासजीने सोचा—'जब द्रव्य आ ही गया है, तो इसके द्वारा प्रभुकी सेवा ही क्यों न की जाय।' यही सोचकर वे महीनेमें दो बार प्रभुका निमन्त्रण करते और उन्हें भगवान्‌के प्रसादीके सुन्दर-सुन्दर पदार्थ लाकर भोजन कराते। प्रभु इनकी प्रसन्नताके निमित्त इनके निमन्त्रणपर जाकर भिक्षा कर आते थे। इस प्रकार दो वर्षोंतक रघुनाथ-दासजी प्रभुका निमन्त्रण करते रहे। उसमें खर्च ही क्या होना था, महीनेमें लगभग आठ आने खर्च होते थे।

एक दिन रघुनाथदासजीने सोचा—'जब मैंने घर-बार, कुटुम्ब-परिवार सबको छोड़ दिया है और सबसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया है, तो फिर मैं पिताके रुपयोंसे प्रभुका निमन्त्रण भी क्यों करूँ ? इस निमन्त्रणसे प्रभु सन्तुष्ट थोड़े ही होते होंगे। वे तो मेरी प्रसन्नताके निमित्त यहाँ आकर भिक्षा कर जाते हैं।' यह सोचकर उन्होंने प्रभुका निमन्त्रण करना बन्द कर दिया।

एक दिन प्रभुने स्वरूप गोस्वामीसे पूछा—'स्वरूप ! न जाने क्या बात है, अब रघु हमारा निमन्त्रण नहीं करता। कहीं नाराज तो नहीं हो गया ?'

स्वरूप गोस्वामीजीने कहा—'प्रभो ! रघुने सोचा होगा, विषयी लोगों-के द्रव्यसे प्रभुका निमन्त्रण करनेसे क्या लाभ ? इससे प्रभु भी सन्तुष्ट न होते होंगे और मेरे मनमें भी संकल्प-विकल्प रहता है, यही सोचकर उन्होंने निमन्त्रण करना छोड़ दिया।'

प्रभुने कहा—'स्वरूप ! तुम ठीक कहते हो। विषयी लोगोंके अन्न खानेसे रजोगुणके भावोंकी वृद्धि होती है। विषयी लोगोंके अन्नमें कामनाओंके परमाणु रहते हैं। संसारी लोग कामनाशून्य होकर तो अपने जामाताको भी नहीं खिलाते। सकाम परमाणुओंसे बुद्धि भी मलिन

हो जाती है और मलिन बुद्धिसे श्रीकृष्णकीर्तन हो नहीं सकता। अतः जहाँतक हो, विषयी धनिक पुरुषोंके अन्नसे तो बचना ही चाहिये। मैं तो रघुके प्रेमसंकोचसे आजतक चला जाता था, उसने बड़ा अच्छा किया जो निमन्त्रण बन्द कर दिया।' इतना कहकर प्रभु स्वरूप गोस्वामीसे रघुनाथजीके त्याग और वैराग्यकी बड़ाई करने लगे।

इधर अब रघुनाथदासजीको सिंहद्वारपर खड़े होकर माँगना कुछ बुरा-सा प्रतीत होने लगा। लोग उनसे परिचित हो गये थे, इसलिये बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदार्थ देने लगे। प्रभुने सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थोंके खानेके लिये निषेध कर दिया था; इसलिये उन्होंने सिंहद्वारकी भिक्षा भी बन्द कर दी। अब वे भिक्षुकोंके साथ क्षेत्रमें जाकर वहाँसे प्रसादी भात ले आते थे।

महाप्रभु सायंकालके समय रोज रघुनाथजीको सिंहद्वारपर खड़ा हुआ देख जाते थे। जब उन्होंने दो-चार दिन रघुनाथदासजीको वहाँ नहीं देखा तब उन्होंने एक दिन गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! रघु अब सिंहद्वारपर नहीं दीखता, पता नहीं, वह अब कहाँसे भिक्षा करता है?'

गोविन्दने कहा—'प्रभो! अब उन्होंने सिंहद्वारकी भिक्षा बन्द कर दी है, अब वे क्षेत्रसे जाकर दिनमें ही माँग लाते हैं।'

प्रभुने सन्तुष्टिके स्वरमें कहा—'रघुने यह सर्वोत्तम कार्य किया। सिंहद्वारपर भिक्षाकी लालसासे खड़े रहना वेश्यावृत्ति है। मुँहसे भले ही नाम-जप करते रहो, चित्तमें सदा यही बनी रहती है कि कोई अन्न देनेवाला आ जाय। यह आवेगा तो जरूर कुछ-न-कुछ देगा। अच्छा, इसने नहीं दिया तो यह तो जरूर ही कुछ देगा। बस, ये ही भाव उठते रहते हैं। क्षेत्रमें अच्छा है अपना एक बार जाकर ले आये और श्रीकृष्णकीर्तन करते रहे।' इतनेमें ही स्वरूप गोस्वामी आ गये। उन्हें

देखते ही प्रभु उल्लासके स्वरमें कहने लगे—'हाँ, हाँ, तुम खूब आ गये, कैसे ठीक समयपर पहुँचे। अभी-अभी तुम्हारे रघुका ही प्रसङ्ग चल रहा था। उसने सिंहद्वारकी भिक्षा क्यों बन्द कर दी है?'

स्वरूप गोस्वामीने धीरेसे कहा—'वह विचित्र है, जहाँ उसे कुछ भी वैराग्यमें कमी दीखती है, वहीं उस कामको बन्द कर देता है। उसने सिंहद्वारकी भिक्षामें कुछ दोष देखा होगा।'

प्रभुने कहा—'उसकी इस बातसे हम बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हैं, उसे बुलाओ तो सही कहाँ है?'

गोविन्द उसी समय जाकर रघुनाथदासजीको बुला लाये। प्रभुको और स्वरूप गोस्वामीको प्रणाम करते हुए धीरे-धीरे भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए स्वरूपके रघु एक ओर बैठ गये। प्रभु जल्दीसे उठे और भीतरसे कुछ चीज उठाकर ले आये।

प्रभु आकर रघुनाथजीके ही समीप बैठ गये। रघुनाथदासजी संकोचके कारण और भी अधिक सिकुड़ गये। प्रभु उनके सुन्दर बालोंपर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए कहने लगे—'रघु, मैं तुमपर बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हूँ। मैं प्रसन्न होकर तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ, किन्तु मुझ निष्किञ्चनके पास देनेको और है ही क्या? जो मेरी सबसे प्यारी सम्पत्ति है, उसे ही तुम्हें देकर मैं सन्तुष्ट हूँगा। शङ्करानन्द सरस्वती वृन्दावन गये थे। उन्होंने वृन्दावनसे लौटकर यह गुञ्जामाला और यह गोवर्धन पर्वतकी शिला प्रसादीरूपमें मुझे दी थी। तुम तो जानते ही होगे कि गिरिराज गोवर्धन पर्वत तो श्रीकृष्णका साक्षात् विग्रह ही है। श्रीकृष्णमें और गोवर्धनमें किसी भी प्रकारका भेदभाव नहीं है। इसीलिये आज तीन वर्षोंसे मैं इस सुन्दर शिलाको अपने नेत्रजलसे स्नान कराता रहा हूँ। मेरी विकलताकी अवस्थामें यह शिला मेरे हृदयको शीतल

बनाती रही है। इसके स्पर्शसे मेरी आँखें पवित्र हुई हैं। ललाट धन्य हुआ है, अनेकों बार इसने मेरे हृदयको परम शीतलता प्रदान की है। भगवान्‌को गुञ्जामाला बहुत प्रिय थी, वे गोवर्धन पर्वतसे गुञ्जोंको पेड़ोंसहित उखाड़-उखाड़कर उनकी मालाएँ बनाकर स्वयं पहनते और अपने साथी गोप-ग्वालोंको भी पहनाते। इसीलिये मैं इसे भजनके समय पहना करता हूँ। ये दोनों वस्तुएँ मुझे अत्यन्त ही प्रिय हैं, इन्हें मैं तुम्हें सौंपता हूँ। तुम आजसे इस गोवर्धनशिलाकी सात्त्विक पूजा किया करना। सात्त्विक पूजामें एक कमण्डलु जल और तुलसीपत्र बस इतनी ही वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। जलसे स्नान करा दिया; तुलसी चढ़ा दी और भक्तिभावसे दण्डवत् कर ली, यही सात्त्विक सेवाका विधान है। तुलसी तथा जलके अभावमें केवल श्रद्धासहित प्रणाम करनेसे भी काम चल सकता है। लो, सम्हालो अपनी चीजोंको।'

प्रभुप्रदत्त उन दोनों वस्तुओंको पाकर रघुनाथजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे प्रभुकी इस अपार कृपाके बोझसे दब-से गये, उन्होंने अत्यन्त ही पुलकित अङ्गसे प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भक्तिभावसे उन दोनों पूज्य वस्तुओंको हाथ फैलाकर दीन भिक्षुककी भाँति उन्हें स्वीकार किया। उस दिनसे वे उस शिलाकी पूजा करने लगे। पूजाके लिये एक-एक बिलस्तके दो वस्त्र और एक काष्ठका आसन स्वरूप गोस्वामीने इन्हें दिया और मिट्टीका एक टोंटनीदार करुवा भी लाकर इन्हें दिया। उनके द्वारा ये भगवान्‌की सात्त्विक पूजा करते। इनका वैराग्य बड़ा ही उत्कट था। साधारण लोगोंको तो इनके वैराग्यकी कथा सुनकर विश्वास ही न होगा।

ये वस्त्रोंमें बस एक फटी गुदड़ी ही रखते। गुदड़ीके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वस्त्र नहीं पहनते थे। रात्रिमें केवल घण्टे-डेढ़-घण्टे

सोते थे, नहीं तो निरन्तर भगवन्नामस्मरण ही करते रहते । जिह्वाका स्वाद तो इन्होंने घर छोड़नेपर फिर कभी लिया ही नहीं । भिक्षामें जो भी रूखा-सूखा, मीठा-कड़वा जो कुछ मिल जाता सबको मिला-जुलाकर खा लेते थे । अब इनके घोर वैराग्यकी एक अद्भुत कथा सुनिये । इससे इनकी तितिक्षा, सहनशीलता, जिह्वासंयमकी कठोरता और निष्किञ्चनताका पता लग जायगा ।

ये दोपहरको क्षेत्रसे भिक्षा लाते थे । उसमें भी इन्हें कुछ परतन्त्रता-सी दिखायी देने लगी । भण्डारी इन्हें अधिक भिक्षा देने लगा तथा और भी इन्होंने उसमें संग्रहके भाव देखे । अतः इन्होंने क्षेत्रसे अन्न लाना भी बन्द कर दिया । अब ये दूसरी ही तरह इस पेटरूपी गड्ढेको आटने लगे ।

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि जगन्नाथजीमें दूकानोंपर भगवान्का प्रसादी भात बिकता है । दूकानदारोंकी दूकानपर जब दो-तीन दिन भात नहीं बिकता है, तो वह सड़ जाता है । उस सड़े हुए चावलोंको वे गौओंके लिये रास्तेमें फेंक देते हैं । तैलङ्गदेश वहाँसे पासमें ही है, पुरीमें बड़ी-बड़ी तैलङ्गी गौएँ वैसे ही इधर-उधर घूमती रहती हैं, उनका पेट इसी प्रकारके भातसे भर जाता है । सिंहद्वारके समीपमें बहुत-सी दूकानें हैं, उन्हींपर प्रसाद बिकता है । सड़े भातको वे वहीं डाल देते हैं, गौएँ भी पेट भरनेपर उस सड़े भातको नहीं खाती हैं । उसी भातको सायंकालके समय रघुनाथदासजी उठा ले जाते थे । फिर उसमें बहुत-सा जल डालकर धोते थे । उनमेंसे बहुत सड़े-सड़े दानोंको बीन-बीनकर वे निकाल देते और जो कुछ अच्छे चावलके दाने शेष रह जाते उन्हें ही थोड़े नमकके साथ खाकर वे पानी पी लेते थे । बस, इसी प्रकार वे समय बिताने लगे । इस सारे कामको वे रात्रिमें ही करते थे, जिससे कोई देखने न पावे ।

भक्त रघुनाथदास और श्रीचैतन्य

एक दिन स्वरूप गोस्वामीने इन्हें इस भातको खाते हुए देख लिया। उन्होंने हँसकर कहा—'क्यों रघु, अकेले-ही-अकेले ऐसे सुस्वादु पदार्थको खा जाते हो, हमें एक दिन भी नहीं देते।' रघुनाथदासजी कुछ लज्जितभावसे चुप हो गये।

महाप्रभु तो अपने भक्तोंकी एक-एक बातकी खोज-खबर रखते थे। एक दिन प्रभुने गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! मालूम पड़ता है, रघु अन्न क्षेत्रसे भी भिक्षा नहीं लाता। वह भिक्षा कहाँ करता है?'

गोविन्दने रघुनाथदासका सभी वृत्तान्त सुना दिया। सुनकर प्रभुके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसी दिन सायंकालके समय प्रभु रघुनाथजीके स्थानपर गये। उस समय वे धीरे-धीरे उस सुस्वादु अन्नको खा रहे थे। प्रभु धीरे-धीरे जाकर उनके पीछे खड़े हो गये। रघुनाथदासजीको क्या पता कि मेरे पीछे कौन खड़ा है? ज्यों ही उन्होंने ग्रासको मुँहमें दिया त्यों ही प्रभुने धीरेसे कहा—'क्यों जी, स्वरूपके रघु! हमारा निमन्त्रण भी बन्द कर दिया और ऐसे सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंको भी आप-ही-आप छिपकर चुपके-चुपके खा जाते हो, हमें इसमेंसे कुछ भी नहीं देते।' यह कहकर प्रभुने उनके पात्रमेंसे एक मुट्ठी चावल जल्दीसे उठाकर अपने मुँहमें डाल लिये।

'हाय, हाय' करते हुए अत्यन्त ही करुण स्वरमें रघुनाथदासजी रोते-रोते और उस पात्रको दोनों हाथोंसे पकड़े हुए कहने लगे—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं? नाथ! यह आपके योग्य नहीं है। प्रभो! इस गले हुए उच्छिष्ट अन्नको खाकर मुझे पापका भागी न बनाइये।' मुँहमें भरे हुए ग्रासको जल्दी-जल्दी प्रभु खाते हुए फिर दूसरा ग्रास लेनेके लिये उनकी ओर लपके, इतनेमें ही हल्ला-गुल्ला सुनकर स्वरूप गोस्वामी भी वहाँ आ उपस्थित हुए। प्रभुको रघुनाथसे भात छीनते देख-

कर उन्होंने उनका हाथ पकड़ लिया और कहने लगे—'प्रभो! यह आपके योग्य नहीं है।'

प्रभु उस सूखे भातको कठिनतासे निगलते-निगलते कहने लगे—'स्वरूप! तुमसे मैं सत्य कहता हूँ, जितना स्वाद आजके इन चावलोंमें आया है, उतना जीवनपर्यन्त किसी भी पदार्थमें नहीं मिला।' अहा, धन्य है, ऐसी भक्तवत्सलताको। हे प्रभो! यह आपके वैराग्यका ही स्वाद है। हे गौर! तुम्हीं जीवोंको प्रेम प्रदान करते हो और फिर तुम्हीं उसका रसास्वादन करके मग्न होते हो। हे चैतन्य! तुम्हारी लीला विचित्र है, तुम्हारी माया अपरम्पार है। हम पाप-पंकमें फँसे हुए विषयोंको ही सर्वश्रेष्ठ सुख समझनेवाले क्षुद्र प्राणी तुम्हारी लीलाओंका रहस्य समझ ही क्या सकते हैं। जिसके ऊपर तुम कृपा करते हो, वह संसार-सागरसे बात-की-बातमें पार हो जाता है।

इस प्रकार महामना श्रीरघुनाथदासजी चैतन्यचरणोंकी अपार अनुकम्पाका अनुभव करते हुए सोलह वर्षोंतक पुरीमें इसी प्रकारका त्याग-वैराग्ययुक्त प्रेममय जीवन बिताते रहे।*

* आगेकी पुण्य लीलाओंके लिये पाँचवाँ खण्ड देखनेकी प्रार्थना है।